नाहीं। सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं॥ देन कहेउ अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू' में श्लोक ४२ का भाव है कि वर देनेको कहकर तुम उसका उलटा कर रहे हो इससे तुम अपने वंशके राजाओंके यशमें कलंक लगाओगे। *'सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा।''''* की जोड़में श्लोक ४३ है कि बाज और कबूतरके प्रसंगमें राजा शिबिने पक्षीको अपना मांस दे दिया था *'बचन पनु राखा'* का भाव श्लोक ४४ में है कि इन सब बातोंका स्मरण करके अपनी प्रतिज्ञा न छोड़िये, प्राणप्रिय रामका एवं प्राणोंका वियोग होगा तो क्या? *'सत्य सराहि''''लेइहि माँगि चबेना'* में श्लोक ४६ का भाव ले सकते हैं कि इस प्रतिज्ञामें अब रद्दोबदल नहीं हो सकता, जो मैंने माँगा है वही देना होगा।

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा॥ ७॥
अति कटु बचन कहत कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥ ८॥

अर्थ—राजा शिबि, दधीचि ऋषि और राजा बलिने जो कुछ कहा उस वचनकी प्रतिज्ञाकी उन्होंने रक्षा की, तन, धन (भले ही) त्याग दिया॥ ७॥ कैकेयी अत्यन्त कड़ुए वचन कह रही है मानो जलेपर नमक छिड़कती है॥ ८॥

राजा शिबिजी—महाभारत वनपर्व अ० १९७ में मार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरजीसे इनकी कथा यों कही है—ये 'उशीनर महाराजके पुत्र थे। इनकी साधुता और उदारताकी परीक्षा लेनेके लिये देवताओंने इन्द्र और अग्निको भेजा। अग्नि कबूतर बन गये और इन्द्र बाज। राजा शिबि सभामें सिंहासनपर विराजमान थे। कबूतर भागता हुआ उनकी गोदमें जा गिरा और बाज भी पीछा करता हुआ वहाँ पहुँचा। कबूतरने राजासे कहा कि मैं आपकी शरण हूँ, मैं वस्तुतः कबूतर नहीं हूँ, एक स्वाध्यायनिरत तपस्वी श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ, मेरे प्राणोंकी रक्षा कीजिये। इसपर बाज बोला कि मेरे आहारमें विघ्न न डालिये। इन दोनोंकी ऐसी स्पष्ट मनुष्य-भाषामें बातचीत सुन राजा असमंजसमें पड़ गये। शरणागतको शत्रुके हाथमें देनेके पातकको कहते हुए राजाने बाजसे कहा कि मैं अपने प्राण चाहे दे दूँ पर शरणागतको नहीं छोड़ूँगा, तुम इसके लिये व्यर्थ क्लेश न करो। हाँ, मैं उनके बदले बैल आदिका मांस दे सकता हूँ, अथवा और जिसमें मेरी कीर्ति हो और तुम्हारा भी प्रिय हो वह बताओ मैं उसे करनेको तैयार हूँ।

तब बाजने कहा कि अपनी दाहिनी जंघाका मांस अपने हाथसे काटकर इसके बराबर तौलकर मुझे खिला दीजिये तो मेरा प्रिय होगा और इसकी जान बचेगी।

महाराज शिबिने तराजू मँगाकर एक पलड़ेमें कबूतरको बिठाया और दूसरेमें अपना मांस काट-काटकर रखते गये। पर सारे शरीरका मांस काटकर चढ़ा देनेपर भी कबूतरका पलड़ा भारी ही रहा, तब राजाने अपना शरीर ही शरणागतकी रक्षाके लिये अर्पण कर दिया। यह देख बाज यह कहता हुआ अन्तर्धान हो गया कि राजाके लिये असाध्य कुछ नहीं है और कबूतरकी रक्षा हो गयी। तब राजाने कबूतरसे पूछा कि यह बाज कौन था? उसने सारा हाल कह दिया और बर दिया कि जो मांस तुमने मेरी रक्षाके लिये दिया है यह तुम राजाओंका स्वर्णवर्ण अत्यन्त पवित्र सुगन्धयुक्त राजचिह्न होगा अर्थात् जंघाकी चमड़ीका रंग सुन्दर और सुनहला हो जायगा और इससे बड़ी पवित्र सुन्दर सुगन्ध निकलती रहेगी। और तुम्हारे दक्षिण भागसे जंघाके इस चिह्नके पाससे यशस्वी कपोतरोमा पुत्र होगा। यह कहकर वह भी अन्तर्धान हो गया।

कहीं-कहीं ऐसा लेख है कि राजाने १०० यज्ञ करनेका संकल्प किया। ९९ यज्ञ पूरे हो जानेपर इन्द्र डरे कि हमारा सिंहासन राजा न छीन लें। अतः उसने अग्निको साथ ले राजा जहाँ यज्ञमें बैठे थे वहीं परीक्षा लेने पहुँचे।''''जब शरीरका मांस कबूतरके बराबर न हुआ तब राजाने सिर काटकर देना चाहा। ज्यों ही उन्होंने तलवार उठायी इन्द्र और अग्निदेव अपना कृत्रिम रूप छोड़कर प्रकट हो गये और प्रसन्न होकर उन्होंने राजाका शरीर जैसाका तैसा कर दिया। ये सोमवंशी राजा थे और ययातिके दौहित्र थे। उशीनर देश कन्धारके समीप है।

शिबिजीके धर्म और धैर्यकी परीक्षाके लिये एक बार ब्रह्माजी ब्राह्मण-वेष धरकर आये और बोले कि अपने पुत्रका मांस पकाकर खिला। जब भोजन तैयार कर राजा विप्रके पास गये तो वह वहाँ न मिला। मालूम हुआ कि देर हो जानेसे वह विप्र कुपित हो गये और घर-बार-नगरमें आग लगा रहे हैं। तब भी राजाको किंचित् दुःख न हुआ। वे विप्रके पास भोजन ले गये। उसने कहा कि तुम्हीं खा लो। ज्योंही वे आज्ञा मानकर खानेको तैयार हुए, विप्रने हाथ पकड़ लिया और बहुत सत्कार किया। राजाने देखा कि पुत्र वहीं जीवित खड़ा हुआ है। (अ० १९९) ☞ राजा शिबिसे जो कोई जो कुछ माँगता वे देनेको उद्यत हो जाते थे, यह कुछ यशकी अथवा ऐश्वर्य वा भोगोंकी कामनासे नहीं किंतु इस विचारसे कि 'धर्मात्मा पुरुषोंने इस मार्गका सेवन किया है, अतः मेरा भी यही कर्त्तव्य है'। 'सत्पुरुष जिस मार्गसे चले हैं, वही उत्तम है' यही सोचकर उनकी बुद्धि उत्तम पथका आश्रय लेती रही है।—'**महाजनो येन गतः स पन्थाः।**'

वनपर्व अध्याय १३०, १३१ में लोमशजीने राजा उशीनरकी धर्म-परीक्षाका इतिहास भी ऐसा ही कहा है; केवल भेद इतना ही है कि वहाँ इन्द्र और अग्नि दोनोंका छद्मवेश छोड़कर प्रकट होना वर्णित है। जान पड़ता है कि टीकाकारोंने भ्रमसे एककी कथा दूसरेमें जोड़ दी है अथवा कल्पभेद हो।

२—श्रीदधीचि ऋषि—ब्रह्माजीके मानसपुत्र अथर्वण ऋषिके पुत्र हैं। इनकी माता चिति (शान्ति) देवहूतिजीकी कन्या हैं। ये बड़े उदार-बुद्धि और महातपस्वी थे। इनका आश्रम सरस्वती नदीके पार था। जब इन्द्र वृत्रासुरको न जीत सका तब देवगण भगवान् विष्णुकी शरण गये और प्रार्थना की। भगवान्‌ने प्रकट होकर इन्द्रसे कहा कि—तुम ऋषिश्रेष्ठ दधीचिके पास जाओ, विद्या, व्रत एवं तपके प्रभावसे अत्यन्त दृढ़ उनका शरीर उनसे माँगो। वे अध्यात्म-विद्यामें अत्यन्त विद्वान् हैं, ज्ञान-काण्डको जानते हैं एवं उसे अश्विनीकुमारको बतलाया है जिसके बलसे वे अमरभावको प्राप्त हो गये। मुनिने त्वष्टाको अभेद-नारायण-कवच बताया था…। तुम लोगोंके प्रार्थना करनेपर अतिथि धर्मज्ञ ऋषि तुमको अपना शरीर दे देंगे। उनकी हड्डियोंसे विश्वकर्मा जो अस्त्र बना देंगे उसके द्वारा मेरे तेजसे युक्त तुम वृत्रासुरका सिर काटोगे। देवताओंसमेत इन्द्रने जाकर प्रार्थना की, अपना दुखड़ा कह सुनाया और शरीर माँगा। उन्होंने प्रसन्न-हृदयसे कहा—'हे स्वामियो! यह शरीर अनित्य है, जो पुरुष सब प्राणियोंपर दया प्रकाश करते हुए इससे धर्म-धनके उपार्जनकी चेष्टा नहीं करता उसके लिये अचेतन जड़ जीव भी शोच करते हैं। जो व्यक्ति अन्य प्राणियोंके शोकमें शोकाकुल और हर्षमें हर्षित होते हैं उनका उक्त धर्म अव्यय है। पुण्यश्लोक मनुष्य उक्त धर्मका आदर करते हैं। धन, स्वजन एवं शरीर कुछ भी अपना प्रयोजनीय नहीं है। अहो, कैसे कष्टकी बात है, कैसी कृपणता है! मनुष्य इनसे भी उपकार नहीं कर सकता। मेरा यह शरीर अत्यन्त प्रीतिपात्र होनेपर भी एक दिन अवश्य मुझे त्याग देगा। अतः आप लोगोंके लिये मैं इसको अभी त्यागे देता हूँ। ऐसा कह उन्होंने शरीर त्याग दिया और विश्वकर्माने उनकी हड्डियोंसे वज्र बनाया जिससे वृत्रासुर मारा गया। (श्रीमद्भागवत ४। १। ४२, स्कन्ध ६ अध्याय ९, १०)

प० पु० सृष्टिखण्ड अ० १९ में लिखा है कि सत्ययुगमें कालकेय नामक दुर्जेय दैत्यगण वृत्रासुरको अपना सरदार बनाकर देवताओंपर चढ़ आये। तब इन्द्रादि देवता ब्रह्माजीके पास गये। उन्होंने देवताओंको दधीचिके पास हड्डियाँ माँग लानेको भेजा। उनका आश्रम सरस्वती नदीके उस पार है। पुष्करतीर्थके आश्रमोंके वर्णनमें यह कथा है। महाभारत वनपर्व अ० १०० में भी ब्रह्माजीने ही देवताओंको महर्षिके पास भेजा था और हड्डियोंसे छः कोनोंवाला भयानक ध्वनिपूर्ण सुदृढ़ वज्र बनवानेकी सम्मति दी थी।

बालकाण्ड परशुराम-गर्वहरण प्रकरणमें लिखा है कि इन्हींकी हड्डियोंसे दो धनुष बने थे, एक श्रीशिवजीके लिये दूसरा भगवान् विष्णुके लिये। पुराणान्तरमें ऐसी कथा है कि ऋषिने शरीरपर क्षार लगवाकर सब मांस गौओंसे चटवा दिया। हड्डियाँ देवताओंको दे दीं।

'राजा बलि'—ये दैत्यराज प्रह्लादके पौत्र थे। देवताओंको इन्होंने जीत लिया। यह बड़े धर्मज्ञ और दानशील थे। देवताओंका राज्य आदि छिन जानेपर उनकी माता अदितिने अपने पति कश्यपजीसे प्रार्थना

की, उन्होंने भगवान्‌की उपासना इनको बतायी जिससे भगवान् प्रसन्न हो उनके पुत्र हुए—'वामन' रूपसे। यह अवतार भाद्रपद शुक्ल १२ को हुआ। वामनभगवान् इसी रूपसे बलिके पास आये। वह उस समय यज्ञमें बैठा था (९९ यज्ञ कर चुका था और अब इन्द्र बननेके लिये अन्तिम यज्ञ कर रहा था)। राजा बलिने ब्राह्मण वामनरूप भगवान्‌का आदर-सम्मान कर चरणामृत ले उनसे कहा कि आपकी जो-जो अभिलाषा हो मुझसे कहिये मैं आपको वही दूँगा। वामनजीने उनकी उदारताकी प्रशंसा करके अपने पैरोंके नापसे तीन पग पृथ्वी माँगी। शुक्राचार्यने दैत्यराजको बहुत समझाया कि तुम 'नहीं' कर दो, ये भगवान् हैं, छलसे तुम्हारा राज्य आदि लेना चाहते हैं; फिर भी राजा बलि प्रतिज्ञासे न डिगे। वे बोले—मैं प्रह्लादका पौत्र हूँ 'दूँगा' कहकर अब 'नहीं दूँगा' नहीं कह सकता। मैं अवश्य दूँगा।'''वामन ब्रह्मचारीने पग बढ़ाया, एक पगसे बलिकी पृथ्वी नाप ली। दूसरे चरणकी नापमें स्वर्ग आदि सभी आ गये; तीसरेके लिये कुछ न बचा। भगवान्‌के यह कहनेपर कि तेरा वचन असत्य हुआ बलिने उत्तर दिया कि राजाका शरीर आधा राज्यके बराबर है आप इसे एक चरणके बदलेमें नाप लीजिये। मैं झूठ नहीं बोलता और अपकीर्तिसे बहुत डरता हूँ। भगवान्‌ने तीसरा चरण इनके सिरपर रख इनको भी नाप लिया।—(भा० स्कं० ८ अ० १६—२२)

टिप्पणी—१ *'सिबि दधीचि'''* इति। (क) भाव कि इन्होंने जो कुछ कहा उसे पूरा किया। तन वा धन बचानेका उपाय नहीं किया, न मनसे ऐसी चेष्टा की। श्रीशिबिमहाराज और महर्षि दधीचिने तन दे दिया और राजा बलिने धन-(त्रैलोक्यकी सम्पत्ति) दे दिया। इस तरह यहाँ 'यथासंख्यालङ्कार' है। (ख) ***'तन धन तजेउ'***—भरतजीको राज्य देनेमें राजाको धन-(अवधराज्यरूपी सम्पत्ति-) का त्याग करना पड़ेगा और श्रीरामजीको वन देनेमें तनका त्याग होगा। इसीसे तन और धनके त्याग करनेवालोंके उदाहरण दिये। [पुनः भाव कि श्रीशिबिजी और महर्षि दधीचिने शरीर दे डाला और राजा बलिने सर्वस्व दे दिया (त्रिलोकीकी सम्पत्ति देकर फिर शरीर भी समर्पित कर दिया) और तुम्हारे तो चार पुत्र हैं, उनमेंसे केवल एकका वियोग माँगती हूँ और वह भी अल्पकाल, केवल १४ वर्षके लिये, यह तो उन लोगोंकी उदारताके सामने कुछ भी नहीं है; यह विशेष दुःखद नहीं है। (पं०—इन दृष्टान्तोंसे जनाया कि उदार पुरुषोंको शरीर और सम्पत्तिका मोह नहीं होता, वचनके आगे वे इन्हें तृण-समान त्याग देते हैं और आपको तो धन और तन दोनोंका मोह है।)]

टिप्पणी—२ ***'अति कटु बचन कहत'''*** 'इति। शङ्का—कैकेयीके वचन तो धर्ममय हैं। धर्मकी बातको 'अति कटु' कैसे कहा? समाधान—वह धर्मात्माओंकी प्रशंसा करके राजाकी निन्दा कर रही है, यथा—***'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥'*** यही 'अति कटु' है मानो जलेपर लोन लगाती है। प्रथम जलना लिख आये—***'बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'*** वर माँगकर राजाको जलाया और अब धर्मात्माओंका धर्म कहकर राजाको अधर्मी बनाती है, यह जलेपर लोन लगाना है। 'अति कटु' वचन कह रही है, क्योंकि राजापर भारी क्रोध है, यथा—***'आगे दीखि जरत रिस भारी।'*** जब जैसी रिस होती है तब तैसा कटु वचन निकलता है। क्रोधसे कटु वचन निकलते हैं, यथा—***'क्रोधके परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि।'*** (३। ३८) इस समय भारी क्रोध है, अतः 'अति' कटुवचन निकले। पुनः, वनवास कटु उसपर भी अधर्मी, असत्यवादी, कृपण, प्राण और धनके लोभी, धर्मके न जाननेवाले, इत्यादि बनाना यह 'अति कटु' है। (वाल्मीकिजीने उपर्युक्त वचनोंको भयङ्कर कहा है, यथा—**'रौद्रतरं वचः'** वही यहाँ 'अति कटु' है। पंजाबीजीका मत है कि श्रीरामजीको बिना अपराध महा वनवास देनेको अल्प कष्ट कहना 'अति कटु' है)।

नोट—जलेपर लोन लगाना या छिड़कना मुहावरा है। किसी दुःखी या व्यथित मनुष्यको और अधिक दुःख या व्यथा पहुँचानेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जले हुए स्थानपर यदि धोखेसे भी नमक लग जाय तो बड़ी असह्य वेदना या पीड़ा होती है।

पंडितजी—एक तो राजाने उसे वचन दिया यद्यपि वह उसकी पात्र न थी, इस कारण वरसे दाह हो रहा है; दूसरे इतिहास कहकर जलेपर नमक लगा रही है, अधर्मीके मुँहसे धर्मके इतिहास नहीं सुहाते।

वीर कविजी—रामवियोगका दु:ख और आगसे जलनेका घाव, कैकेयीके कटुवचन और लवण परस्पर उपमेय-उपमान हैं। जलेपर नमक पड़नेसे असह्य पीड़ा होती ही है। अत: यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

दो०—धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे राय।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय॥ ३०॥

शब्दार्थ—**धरम धुरंधर**=धर्मकी धुरी धारण करनेवाले, धर्मिष्ठ, धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ। **उघारे**=खोले। **उसास** (उत+श्वास)=ऊर्ध्व श्वास, ऊपरको चढ़ती हुई लम्बी साँस। **लीन्हि उसास**=ठंडी दु:खभरी श्वास ली, आह भरी। **कुठाय**=बुरी जगह; मर्मस्थान।

अर्थ—धर्मिष्ठ राजाने, धीरज धरकर नेत्र खोले। माथा पीटकर आह भरी मनमें सोचते हैं कि इसने मुझे बुरी ठौर तलवारसे मारा॥ ३०॥

टिप्पणी—१ *'धरम धुरंधर'* का भाव—(क) राजा धर्मिष्ठ हैं, वे धर्मका त्याग नहीं करना चाहते, इससे यद्यपि वे शोकमें मग्न हैं, नेत्र खोलने वा बोलनेकी सामर्थ्य नहीं है तो भी उन्होंने धैर्य धारण किया और आँखें खोलीं। [पुन: धर्मधुरंधर कहा; क्योंकि अपने धर्मके डरसे ऐसे कटुवचन सह रहे हैं, नहीं तो न जाने क्या कर डालते। (रा० प्र०) रानी राजाको अधर्मी बना रही है, कवि उसके इस अधर्मको नहीं सह सकते, इसीसे राजाको धर्मधुरंधर विशेषण देकर उसे झूठी करार दे रहे हैं, उसकी बातोंका खण्डन कर रहे हैं।]

टिप्पणी—२ *'सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठाय'* इति। (क) राजाको बड़ा दु:ख हुआ, भारी दु:खमें लोग सिर पीटते हैं, अत: राजाने भी सिर धुना। राजा हृदयसे हार गये हैं, कैकेयीसे कुछ बस नहीं चलता दीखता, कुछ उपाय नहीं लगता सूझता। जब कोई उपाय नही सूझता तब लोग ऊर्ध्व श्वास लेते हैं; वैसे ही राजाको कोई उपाय न सूझा, इससे उन्होंने ऊर्ध्व श्वास ली। यथा—'**ध्यात्वा रामेऽति निःश्वस्य।**' (वाल्मी० २। १२। ५४) (ख) यहाँ '**असि**' से मारना कहते हैं; इसीसे आगे 'असि' का ही रूपक बाँधते हैं। राजा विचारते हैं कि इसने तलवार मारी पर ऐसी बुरी और नाजुक ठौर मारी कि जहाँ घाव लगनेसे मरहमपट्टी भी न लग सके, किसी प्रकार भी जान नहीं बच सकती, मरण अवश्य होगा। 'हम तो रामको राज्य देते हैं और कैकेयी वनवास माँगती है', यही कुठौरमें तलवार मारना है। इससे हमारा सत्य ही जायगा या जीवन ही, यही तलवारका लगना है।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—माँगनेवाला जो चाहता है, माँगता है, पर देनेवाला जो चाहता है वही देता है, वरदाता देवता लोग भी कह देते हैं कि यह वर अदेय है, दूसरा वर माँगो, इसमें धैर्य छोड़नेकी कोई बात नहीं थी, पर राजा धर्मधुरंधर थे। उन्हें प्राणसे प्यारे रामजी थे, रामजीसे भी प्यारा सत्य था, यथा—*'तुलसी जान्यौ दशरथहि धरमु न सत्य समान। राम तजेउ जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान॥'* वह सत्यको किसी दशामें भी छोड़नेको तैयार न थे। उन्होंने वरको दिया हुआ मानकर अपार सोच किया, और इसीसे उनका धैर्य छूट गया। *'माथे हाथ मूदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन॥'*

जब कैकेयीने कहा कि अपनेको सँभालकर कुछ बोलो तो, हाँ या नाँ कुछ उत्तर तो दो, और राजाकी विकलतापर अनेक आक्षेप करने लगी, तब राजाने अपनेको सँभाला, धैर्य धारण करके आँख खोली, पर सामनेका दृश्य देखकर सिर पीटने लगे, कैकेयीको ऐसा क्रोधमें भरा पाया कि उससे दया या स्नेहकी कोई आशा ही न रह गयी। जब मनुष्यसे कुछ करते नहीं बनता तभी वह सिर पीटता है, लम्बी साँस लेता है। राजा सत्यके अनुरोधसे 'नाँ' कर नहीं सकते, और रामजी प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं, उन्हें आँखसे ओट करना और प्राण छोड़ना एक बात है, अत: 'हाँ' कहना भी असम्भव है, अब यदि कैकेयी ही दया करे तो कोई रास्ता निकल सकता है सो कैकेयी *'आगे दीख जरत रिसि भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी'* हो रही है, अत: सिर पीटते हैं और लम्बी साँस लेते हैं। सोचते हैं कि इसके क्रोधरूपी खड्गका आघात

रामजीपर नहीं है, मुझपर है। *'राम पुनीत बिषयरस रूखे'* हैं (देवताओंने भी कहा था कि *'बिस्मय हर्ष रहित रघुराऊ')* अतः रामजीकी भी कोई विशेष हानि नहीं है। इसमें मरण हमारा है, जो रामजीके बिना जी नहीं सकते, और सबसे बड़ी बात यह है कि मैंने ही रामजीसे कहलाया था कि कल तुम्हारा अभिषेक होगा, और जब कलका दिन आया, तब मैं ही कहूँ कि तुम्हें मैं बनवास देता हूँ। यह तो प्राण रहते नहीं हो सकता (यथा—*'कहेउ राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ')* अतः यह तलवारकी चोट ऐसे मर्मपर की गयी है कि इसका परिणाम मृत्यु ही है, इसका कोई उपचार हो नहीं सकता, इसीलिये कहते हैं कि यह तलवार मुझपर चली है और इसने सद्यः प्राणहर मर्मको काट दिया।

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥ १॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥ २॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा॥ ३॥

शब्दार्थ—**मूठि** (मूठ)=किसी हथियारका वह भाग जो व्यवहार करते समय हाथमें रहता है, मुठिया, दस्ता, कब्जा। **निठुराई**=निर्दयता, हृदयकी कठोरता। **सान** (शाण)=वह पत्थरकी चक्की जिसपर अस्त्रादि तेज किये जाते हैं। शाण धरना=अस्त्र तेज करना। **कराल**=भयंकर। **उघारी**=म्यानसे निकाली हुई, नंगी। **बनाई**=भलीभाँति ठीक करके।

अर्थ—भारी क्रोधसे जलती हुई कैकेयीको आगे (खड़ी) देखा। (वह ऐसी मालूम होती थी) मानो रोषरूपी नंगी तलवार है॥ १॥ कुबुद्धि जिसकी मूठ और निष्ठुरता धार है, जिसे कूबरीने अच्छी तरह शाणपर धरकर तेज किया है (वा, जो कूबरीरूपिणी शाणपर तेज की गयी है)॥ २॥ राजाने लख लिया कि यह बड़ी भयंकर और कठोर है, यह अवश्य मेरा सत्य या प्राण लेगी*॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'आगें दीखि'''उघारी'* इति। (क) राजाने नेत्र खोले तो भारी क्रोधाग्निसे जलती हुई कैकेयीको आगे देखा। *'रिस भारी'* से सूचित किया कि आँखें लाल हैं, होंठ फड़क रहे हैं, मुख रोषसे लाल है। रोष तलवार है। स्नेह म्यान है (बैजनाथजी प्रणयको म्यान मानते हैं। प्रणय प्रीतिका एक अङ्ग है।) जिसके भीतर यह तलवार रखी हुई थी। पहले प्रीति ऊपर दिखायी पड़ती थी और रोष उसके भीतर रहा और अब स्नेह नहीं रह गया, प्रीति-प्रतीति नष्ट हो गयी, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥'* अब केवल रोष ही देख पड़ता है। (ख) रोषको तलवारसे उपमा दी गयी; क्योंकि लोग तलवारसे मारते हैं और कैकेयी राजाको रोषसे मारेगी, वह रोषरूपी तलवारको धारण किये हुए है। तलवार नंगी है, म्यान नहीं है, इससे म्यानका उल्लेख नहीं किया गया। (ग)—*'रिस भारी'* से सूचित किया कि तलवार भारी है। प्रथम कटुवचन सुनकर *'आँख उघारी'*, आँख खोलकर देखा, कि आगे भारी रिससे जल रही है। (घ) ऊपर कहा था कि *'मारेसि मोहि कुठाय असि।'* वहाँ कैकेयीका वचन **'असि'** है; क्योंकि मारनेवालेको **'असि'** से पृथक् कहा। और, *'आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥'* में कैकेयीको तलवार कहा, उसके मनको तलवार न कहा; क्योंकि एक तो मनसे कोई किसीको मार नहीं सकता, दूसरे मन प्रकट नहीं होता। पूर्व वचनको और अब कर्मको (अर्थात् केवल कर्म और वचनको) तलवार कहा, क्योंकि कर्म और वचन इन्हीं दोसे लोग दूसरेको मार सकते हैं, मनसे नहीं।

टिप्पणी—२ *'मूठि कुबुद्धि धार निठुराई।'''* इति। (क) कुबरीने अच्छी तरहसे सानपर धरा है अर्थात् कैकेयीको निठुरतामें प्रवीण कर दिया है। (ख) तलवारकी मूठ पकड़ी जाती है। मूठ कुबुद्धि है अर्थात् कैकेयी कुबुद्धिको पकड़े है। (रामके निर्वासनके बिना मैं किसी दूसरी वस्तुसे प्रसन्न नहीं होनेकी। कौसल्या अपने बेटेको राज्य दिलाकर मुझे और मेरे बेटेको दासी और दास बनाना चाहती थीं, मैं उनके बेटेको तपस्वी बनाकर भेजूँगी। इत्यादि। उसे रामचन्द्रजीसे भरतके अनिष्टका भय था। *'रामहि तिलक कालि जौं*

* श्रीत्रिपाठीजी यह अर्थ करते हैं—'क्या सचमुच यह मेरा प्राण ही लेगी।'

भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥' यह उसके हृदयमें जो कुबरीने जमा दिया है यही कुबुद्धि है जिसे वह दृढ़ पकड़े है। इसीसे वह सोचती है कि) मेरा भला बस इसीमें है कि भरत निष्कण्टक राज्य पावें और राम वनको जायँ। रोष तलवार है। [उसे किसीकी पीर नहीं रह गयी, पुत्र, सौत और परिवार तथा पतिके दुःखकी पीर नहीं। (वै०) इनकी कौन कहे अपने वैधव्यकी भी परवा नहीं। *'सकउँ पूत पति त्यागि'* पर वह तुली हुई है—यही निष्ठुरता है] रोषसे जो निठुर हो गयी है (निडरपन आ गया है) यही तलवारकी धार है; तात्पर्य कि अब किसीके कहनेसे रानी न मानेगी, मन्थराने सिखाया है, यही उसका शाण धरना है।

टिप्पणी—३ तलवारके प्रथम मूठ है, रोषरूपी तलवारके प्रथम कुबुद्धि है, कुबुद्धिसे रोष होता है। कुबड़ीने शाण धरा और उसीने तलवार बनायी, मन्थराने कैकेयीके रोष पैदा किया, उसको कुबुद्धि किया और निठुर बनाया। शाणकी जोड़में दूसरा अङ्ग कुछ नहीं कहा; क्योंकि शाण धरनेमें दूसरा अङ्ग कुछ नहीं है, निठुरता धार है उसीको पैनी किया है अर्थात् कैकेयीको निठुरतामें प्रवीण कर दिया।

नोट—१ धारको निष्ठुरता कहनेका भाव यह भी है कि जैसे तेज पैनी तलवारका आघात प्राण लेता है वैसे ही वज्र कठोर हृदयवाली कैकेयीको राजाके मरनेका गम नहीं है, वह प्राण लेगी। यदि कुबड़ीको सान मानें तो प्रश्न होता है कि शाण धरनेवाला कौन है? इसका उत्तर कोई-कोई 'सरस्वती' बताते हैं।* पर पूर्व कैकेयी-मन्थरा-संवादमें मन्थराको गुरु और कर्ता कहते आये हैं, यथा—*'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठ कुकाठू॥' 'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥' 'कुटिलमनि गुरू पढ़ाई'* इत्यादि। इनसे यहाँ भी मन्थरा सानपर तेज करनेवाली जान पड़ती है। और, *'काज सँवारेहु सजग सब सहसा जनि पतियाहु', 'कहि कहि कोटिक कपट कहानी'* इत्यादि ही सान हैं जिनसे निष्ठुरता दृढ़ हो गयी। यहाँ 'परम्परित रूपक' है।

टिप्पणी—४ *'लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि'* इति। (क) जब रोषरूपी तलवार म्यानसे निकल आयी तब राजाने उसे देखा। देखनेमें कराल है और काटनेमें कठोर है। *'सत्य कि जीवन लेइहि मोरा'* यही काटना है। *'कराल कठोरा'*—प्रथम रिसको भारी कहा, यथा—*'आगे दीखि जरत रिस भारी',* उसी भारी रिसको तलवार कहते हैं; इसीसे तलवारको कराल कहा। कठोर है अर्थात् समझानेसे रिस निवृत्त होनेवाली नहीं है। जो रामको रख लें तो सत्य ले लेगी और जो राम वन जायँगे तो जीवन लेगी। (ख) *'सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा'*—भाव कि अभीतक राजाको आशा थी कि यह हमारी प्रिया है, समझानेसे मान जायगी। साधारण कोप है, इसे रूठना भाता है, इसे शीघ्र मना लेंगे। पर, जब उसे भारी रिससे जलती देखा तब आशा छूट गयी, अब जाना कि समझानेसे न मानेगी, सत्य अथवा जीवन लेवेगी।

पण्डितजी—कराल है; अतः भयसे चित्तमें विभ्रम हो जानेका भय है जिससे सत्य छूट जायगा और कठोर है इससे जीवन लेगी। अथवा सत्य ही मेरा जीवन लेगी।

दीनजी—भाव यह है कि 'जैसे शानपर तेज की गयी तलवार किसी वीरका या तो सत्य लेती है—वह पीठ दिखाकर भाग जाता है—या प्राण ही लेती है, वैसे ही मन्थराकी सिखायी-पढ़ायी दुर्बुद्धि और निष्ठुर कैकेयी भी राजाका या तो सत्य लेगी, पन छुटा देगी, या प्राण ही ले लेगी—राजाका देहावसान हो जायगा। इसमें 'विकल्प अलंकार' है।

वि० त्रि०—अब भी राजाके हृदयमें छिपी हुई यह आशाकी एक रेखा थी कि कैकेयीको जब निश्चय हो जायगा कि मेरे प्राणोंपर आ बनी है, तो सम्भव है कि द्रवीभूत हो जाय, पर कैकेयीके उस रौद्ररूपके दर्शनसे वह रेखा भी मिटने लगी, तब राजा सोचते हैं कि क्या सचमुच यह मेरा प्राण ही लेगी। अतः छाती कड़ी करके कैकेयीके समझानेके लिये प्रयत्न करते हैं।

* प० प० प्र० का भी यही मत है कि भवितव्यता अथवा सरस्वती शाण धरनेवाली है।

बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती॥ ४॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर[1] प्रतीति प्रीति करि हाँती॥ ५॥

शब्दार्थ—**कुभाँती**=बुरी तरहसे। **हाँती**=नष्ट करके, तोड़कर।

अर्थ—राजा छाती कड़ी करके विनययुक्त (बहुत नम्र और विनतीसे भरी हुई) कैकेयीको प्रिय लगनेवाली वाणीसे बोले॥ ४॥ हे प्रिये! हे भयशीले! तुम भय (संकोच) विश्वास और प्रेमको नष्ट करके ऐसी बुरी तरहसे वचन कैसे कह रही हो?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बोले राउ कठिन करि छाती।'''* इति। [(क) सत्य न जाय जीवन चाहे चला जाय, यह विचारकर इस तलवारकी चोट सहनेके लिये राजाने अपनी छाती कड़ी की और मनमें कहा, ले मार, मैं तैयार हूँ, प्राण दे दूँगा, पर सत्यको न छोड़ूँगा। (दीनजी)] (ख)—पहले जब कैकेयीने वर माँगा तब उसे सुनकर उनके मुखसे कुछ वचन न निकला था, यथा—*'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।'* अब वे छाती कड़ी करके बोले। रामको वन सुनकर राजाको बोलनेकी शक्ति न रह गयी, जब कैकेयी धर्मात्मा राजाओंका धर्म सुनाकर राजाको अधर्मी बनाने लगी तब राजा छाती कड़ी करके बोले। कैकेयीने जो कहा कि *'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं'* उसे सुनकर राजाने विचार किया कि यदि हम न बोलेंगे तो 'नहीं' होती है, न बोलना 'नहीं' करना है। कैसी वाणी सो बताते हैं—*'सबिनय तासु सोहाती।'* विनयसंयुक्त है और कैकेयीको सुहानेवाली है (ग)—पुनः भाव कि [जब शत्रु अपना मरण देखता है तब अपना पूरा बल एक बार लगा ही देता है। इसी तरह राजाने छाती कड़ी करके कैकेयीसे ऐसा कहा, यह सोचकर कि कह तो लूँ ही मनकी, आखिर मरना तो है ही। क्षत्रिय हैं, तलवारसे क्या डरना! (पं०)]

'....भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती' इति।—

१ गौड़जी—यहाँ 'प्रिया' और 'भीरु' दोनों शब्द सप्रयोजन है। जो प्यारी और प्रियवादिनी हो उसे कुभाँति वचन न कहने चाहिये और जो अकल्याणसे स्वाभाविक ही डरती हो उसे भी अमङ्गल वाक्य मुखसे न निकालने चाहिये। भीर=भीरु=भयशीले! यथा—*'कहा बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ',* यह विशेषण सम्बोधनमें है। स्त्रियोंके लिये संस्कृत ग्रन्थोंमें भी यह विशेषण मिलता है।

२ दीनजी—'भीर' यहाँ बहुत उचित सम्बोधन है। क्योंकि कैकेयीको अकारण यह भय था कि रामराज्यसे भरतको कष्टकी सम्भावना है। राजा दशरथजी 'भीरु' कहकर यह जताते हैं कि तेरा यह भय बिलकुल निर्मूल है।

३ पं० रामकुमारजीके एक हस्तलिखित खर्रेमें हमें यही उपर्युक्त भाव मिला है। वे यों लिखते हैं—'हे प्रिया! अपनी रीति छोड़के वचन कुभाँति क्यों कहती हो? तू तो प्रिया है। जो हमको प्रिय लगे वही तुम्हें कहना चाहिये। हे भीरु! तुम तो भीरु संज्ञा अर्थात् कादरि हो पर कर्म तुम्हारा कठोर है। अथवा भीर, प्रतीति और प्रीतिको हतकर क्यों कहती हो।'†

४ पुरुषोत्तम रामकु०—पहले राजाकी 'कुभाँति' देखकर कैकेयी कुभाँति बोली, यथा—*'एहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा। देखि कुभाँति मनहिं मन माखा॥'* जो *'अति कटु बचन कहति कैकेई'* कैकेयी कटु वचन कह रही है उसीपर राजा उससे कहते हैं कि *'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती'* ‡ अर्थात् हे प्रिये! भीर

---

* राजापुर, पं० रामकुमारजी, रा० प० में 'भीर पाठ है। ना० प्र०, गौड़जीने 'भीरु' पाठ दिया है। वन्दन पाठकजीकी प्रतिमें 'भीरु' है। और हाशियेपर 'भीर' है। हाशियेपर उन्होंने यह टिप्पणी दी है—'भीरु स्यात्कातरे पुंसि कामयानेति योषिति इति महोदधिः।'

† श्रीनंगे परमहंसजीने भी 'भीरु' पाठ देकर अर्थ किया है कि—'प्रीतिका नाश करके भयकी प्रतीति करती है। भाव कि श्रीरामजीमें जो प्रीति की है उसका नाश करके और भरतकी प्रीति भयरूपमें विश्वास किया है यही कुभाँति है।'

‡ प्राण हरण करनेवाले होनेसे वचनको 'कुभाँति' विशेषण दिया। (वै०) यथा—'किमिदं भाषसे भद्रे मम प्राणहरं वचः।' (अ० रा० २। ३। २५)

(अर्थात् डर), प्रतीति और प्रीतिका नाश करके तुम कुभाँति (अर्थात् कटु) वचन कैसे कहती हो? तात्पर्य कि कटु वचन बोलनेसे इन तीनोंका नाश होता है। जो हमारा डर हमारी प्रतीति करतीं और हमसे प्रीति रखतीं तो ऐसे वचन न बोलतीं। अपने स्वामीसे प्रीति, प्रतीति और डर तीनों करने चाहिये। तीनों भाव स्वामीमें रखने और बरतने चाहिये, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।'* (वि० २६८) (वीरकविने भी यही भाव लिखा है)।

५ बाबा हरिहरप्रसाद—'भीर'=सङ्कोच। सङ्कोच, प्रतीति और प्रीतिका नाश करके (अर्थात् तुम्हें कहते भी सङ्कोच नहीं होता कि पतिसे ऐसा कह रही हो, मुझपर जो तेरा विश्वास और प्रेम था वह कहाँ गया। ये बातें तो प्रेम और विश्वासकी नहीं हैं)। अथवा, सबका संकोच, पति-पत्नीविषयक प्रतीति और पुत्रविषयक प्रीतिको नष्ट करके।*

६ प० प० प्र०— मानसमें 'भीर' शब्द 'भय' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—*'हरहु विषम भव भीर।'* तथापि यहाँ 'भीरु' के अर्थमें लेना ही उचित है। मङ्गल-समयमें भी स्त्रीका स्वभाव है कि वह भय मानती है, यथा—*'सभय सुभाउ नारि कर साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा॥'* (५। ३७) यहाँ कैकेयी रामराज्याभिषेकरूपी परम मङ्गलमें भय मान रही है; अतः भीर (भीरु!) सम्बोधनका प्रयोग उचित ही है।

मोरें भरत रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥६॥
अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥७॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥८॥

शब्दार्थ—**साखी**=साक्षी, गवाह। **अवसि**=अवश्य। **सोधि**=शोधकर, ढूँढ़कर, ज्योतिष गणितसे विचारकर, यथा—*'ग्रहबल लग्न नक्षत्र शोधि कीनी वेद ध्वनि'*—(सूर)। पठइब=भेजूँगा।

अर्थ—मेरे तो भरत और राम दो आँखें हैं, मैं शिवजीको साक्षी करके सत्य कहता हूँ॥६॥ मैं सबेरे ही अवश्य दूत भेजूँगा। दोनों भाई सुनते ही शीघ्र आवेंगे॥७॥ सुन्दर मुहूर्त्त शोधवाकर सब तैयारी करके धूम-धामसे (वा, डंकेकी चोटपर) भरतको राज्य दूँगा॥८॥

टिप्पणी—१ *'मोरें भरत रामु दुइ आँखी।'''* इति। (क) कैकेयीने जो कहा था कि *'भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥'* उसके उत्तरमें कहते हैं कि भरत और राम मेरी दो आँखें हैं (भाव कि जो तुम कह रही हो इनमेंसे कोई बात नहीं है। मेरी तो भरत और राम दाहिनी-बायीं दोनों आँखें हैं, इन्हींसे मैं देखता हूँ) *'आँखी'* कहनेका भाव कि आँखवालेकी प्रीति दोनों आँखोंमें समान रहती है, वह दोनोंमें किञ्चित् भी भेद नहीं रखता। (इनमें दाहिनी-बायींका भी किञ्चित् विचार नहीं किया जाता। वैसे ही भरत और राम मुझे समान प्रिय हैं, कोई न्यून या अधिक नहीं। यहाँ *'भरत'* का नाम प्रथम कहा जिसमें कैकेयीको वचन प्रिय लगे। कविने जो कहा था कि राजा *'तासु सोहाती'* बोले, उसीको यहाँ चरितार्थ किया है।) (ख) *'सत्य कहउँ करि संकरु साखी'*—शङ्करजीकी साक्षी देते हैं; क्योंकि कैकेयीको इस बातका विश्वास न होगा कि राजाको भरत और राम समान प्रिय हैं। [भाव कि मैं कुछ मुँहसे ही सत्य नहीं कहता, शङ्करकी साक्षी देकर सत्य कहता हूँ। मैं असत्य कहता हूँगा तो मुझे दण्ड देंगे। 'शङ्कर' का भाव कि सबके कल्याणकर्ता हैं, यदि मैं झूठ कहता हूँगा तो मेरे कल्याणका नाश हो जायगा, पुनः शङ्करजीकी साक्षीका भाव कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि शङ्करजीके नेत्र हैं, यथा—'सूर्यः शशाङ्को वह्निनयनम्', *'इन्दुपावक भानु नयन।'*] (वि० ११) सूर्य और चन्द्र नेत्रोंद्वारा वह दिन-रात देखा करते हैं और अग्निनेत्रसे

* बैजनाथजीने 'भीर' पाठ देकर ऐसा अर्थ किया है—'भीर सब पुत्रोंको समान पालनेकी कृपा (? क्रिया), प्रतीति अपनी मातासे अधिक तेरी मया जानते हैं, प्रीति अपनी मातासे अधिक श्रीरामजी तुझमें प्रीति रखते हैं, इत्यादि सबका नाश करके राम वनको जायँ ये कुभाँति वचन कैसे कहती है?'

दण्ड देते हैं। यदि मैं असत्य कहता हूँ तो वे किंचित् शील न करेंगे मुझे अवश्य दण्ड देंगे। (खर्रा) भरत और राम दो आँखें हैं, तब शेष दो भाई क्या हैं? उत्तर—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामानुगामी हैं और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीभरतानुगामी हैं। ये दोनों अपने-अपने स्वामियोंकी सेवा करते हैं। अतः ये पलकसमान हैं]।

टिप्पणी—२ *'अवसि दूतु मैं पठइब'''* इति। (क) दूत भेजेंगे इसका विश्वास उसको न होगा; इसीसे कहते हैं कि *'ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता।'* दोनों भाई जल्दी आवेंगे तब तो उन्हें निश्चय प्रतीति हो जायगी कि राजाने तुरंत ही दूत भेजे थे। पुनः, उसके विश्वासके लिये *'अवसि'* और *'प्रात'* पद देते हैं अर्थात् उनके बुलानेमें किंचित् विलम्ब न करेंगे, बड़े सबेरे ही दूतोंको भेज देंगे। (ख)—*'ऐहहिं बेगि सुनत'''* अर्थात् हम ऐसी जरूरी चिट्ठी लिखेंगे कि सुनते ही चल देंगे, देर न करेंगे। (ग) *'दोउ भ्राता'* आवेंगे। हम दोनोंको बुला भेजेंगे; कारण यह कि रामको राज्य देने लगे तब भरत-शत्रुघ्नको न बुलाया इसीसे विघ्न हुआ। अब जिसमें आगे कोई विघ्न न हो इस विचारसे शत्रुघ्नको भी बुलावेंगे। (शत्रुघ्नजीके आनेका कारण यह भी हो सकता है कि वे सदा भरतके साथ रहते हैं। जैसे लक्ष्मणजी रामजीके साथ, यथा—*'बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* (१। १९८) जैसे दोनों भरतके ननिहालको साथ-साथ गये वैसे ही साथ-साथ लौटेंगे)।

टिप्पणी—३ *'सुदिन सोधि'''* इति। (क)—*'सुदिन'* जिसमें विघ्न न हो सके, भरत सुखपूर्वक राज्य करें। दोनों भाइयोंके आनेमें विलम्ब नहीं, वे तो शीघ्र ही आवेंगे। राजतिलकमें भी देर न होगी, जितने दिनमें 'सुदिन' शुभ लग्न मुहूर्त्त बन जाय बस उतने ही दिनोंका विलम्ब समझो। (राम-तिलकके लिये कल शुभ मुहूर्त है तो उसी सामग्रीसे क्यों न कर दें? कारण कि भरत केकयदेशमें हैं। दूतके जाने और उनके आनेमें कुछ दिन अवश्य लग जायँगे। यह मुहूर्त उनको मिल नहीं सकता। तबतक और कोई इससे भी उत्तम मुहूर्त शोधवा ली जायगी जो निर्विघ्न हो, इसमें तो विघ्न हो गया था)। (ख)—*'सबु साजु सजाई।'* अर्थात् राज्याभिषेकमें जितनी सामग्री लगती है वह सब एकत्र करके। इस कथनका आशय यह कि भरतको राज्य देनेमें उत्साह कम हो सो नहीं, बड़े उत्साहसे उनको राज्य दूँगा। (ग)—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'* रघुवंशकी इस रीतिको समझकर सम्भव है कि राजा रीतिके उल्लङ्घनके भयसे चुपचाप भरतको राज्य दे दें, विशेष उत्सव न मनावें, इसीपर वे कहते हैं कि हम छिपाकर चोरीसे उनको राज्य देंगे ऐसा न समझो, उनको डंकेकी चोटपर राज्य देंगे। इससे हमें अपयश होगा, कुल कलङ्कित होगा इसको हम नहीं डरेंगे।

दो०—लोभु न रामहिं राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति॥ ३१॥

अर्थ—रामको राज्यका लोभ नहीं है, उनका भरतपर बहुत प्रेम है। मैं (ही) बड़े-छोटेका विचार मनमें करके राज्यनीति (का पालन) कर रहा था॥ ३१॥

टिप्पणी—१ (क) *'लोभु न रामहिं राजु कर'*—सम्भव था कि कैकेयी कहती कि अच्छा भरतको राज्य तो दोगे पर राम उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखेंगे क्योंकि राज्य छूटनेका दुःख होगा। उसपर यह कहते हैं कि उनको राज्यका लोभ नहीं, वे भरतके राज्यमें कुछ उपाधि या उज्र नहीं करेंगे और न राज्यके लिये भरतसे वैर रखेंगे, भरतपर तो उनका बहुत प्रेम है। (ख) *'बहुत भरत पर प्रीति'*—अर्थात् वे उनको राज मिलता देख प्रसन्न होंगे, सुख पावेंगे, पुनः, *'बहुत भरत पर प्रीति'* का भाव कि राम सब भाइयोंपर प्रीति रखते हैं पर भरतपर उनका बहुत प्रेम है, यथा—*'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहत हौं सौंहैं किए।'* (२०१ छंद) *'प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं।'* (२०७। ३) *'भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥'* *'भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥'* (२८९। ६) (ग) पूर्वार्द्धमें रामजीको निर्दोष बताकर उत्तरार्द्धमें सारा दोष अपना बताते हैं कि मैं ही बड़े-छोटेका

विचार करके राजनीतिके अनुकूल रामको तिलक करता था। मुझे तो भरत, राम दोनों बराबर हैं। अब रामको न सही हम भरतको ही राज देंगे। ('मैं' से जनाया कि किसी दूसरेकी सम्मत्ति इसमें न थी, केवल उत्तम नृपनीति—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'*—विचारकर मैंने ही ऐसा किया। इससे सूचित हुआ कि *'लोक बेद संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥'* यह नीति मध्यम है; क्योंकि पहलेके साथ 'सुहाई' विशेषण है—*'यह दिनकर कुलरीति सुहाई'* जो दूसरेमें नहीं है।

नोट—राजा ऐसा कह रहे हैं जिसमें वह प्रसन्न हो जाय और दूसरा वर न माँगे।

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥ १॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥ २॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गए भरत जुबराजू॥ ३॥
एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस मागा॥ ४॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा॥ ५॥

शब्दार्थ—**छूछें**=(सं० तुच्छ, प्रा० छुच्छ), खाली, निष्फल। **छूछें परेउ**=पूर्ण न हुए, सुफल न हुए। **असमंजस**=पसोपेशका; अड़चनवाला, जो न तो करते ही बने और न नहीं करते बने। **आँचा**=आगकी तपन या गर्मी। **परिहास**=हँसी। सुभाऊ=छल-कपटसे या बनाकर नहीं।

अर्थ—रामकी सौ शपथ करके मैं स्वभावसे ही कहता हूँ* कि रामकी माताने मुझसे (तिलकके विषयमें) कभी कुछ नहीं कहा॥ १॥ (हाँ) मैंने बिना तुझसे पूछे ही यह सब किया, इसीसे (सब) मनोरथ निष्फल हुए॥ २॥ अब क्रोध छोड़ो और मङ्गलसाज साजो। कुछ ही दिन बीतनेपर भरत युवराज हो जायँगे॥ ३॥ एक ही बातसे मुझे दुःख हुआ कि दूसरा वरदान तुमने बड़े अड़चनका माँगा है॥ ४॥ उसीकी आँचसे अब भी मेरा हृदय जल रहा है। यह तुम्हारा क्रोध है, या हँसी है या सच-ही-सच है?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ।'''* इति। (क) राजा अब समझ गये कि इसके हृदयमें तीन लोगोंपर संदेह है—रामपर, कौसल्यापर और मुझपर। अतएव तीनोंकी सफाई देते हैं। कौसल्यापर संदेह है कि इनके कहनेसे राजा रामको राज्य देते हैं, यथा—*'राम मातु मत जानब रउरे', 'सालु तुम्हार कौसिलहिं माई।'* अतः उनकी सफाईके लिये रामजीकी शपथ की। श्रीरामजीके शपथसे कैकेयीको विश्वास हो जायगा कि ये रामकी झूठी शपथ कदापि न करेंगे, क्योंकि इनको वे अत्यन्त प्रिय हैं। भरतकी शपथ न की; क्योंकि उससे कैकेयीका क्रोध और प्रचण्ड हो जाता, यह समझकर कि कौसल्या ही तो अपने पुत्र रामको राज्य दिलाती है, हमारे पुत्रको उसीने ननिहाल भेजवाया, उसकी झूठी सफाईमें हमारे पुत्रकी शपथ करते हैं। (२) *'सपथ सत'* में 'सत' अनन्तवाची है अर्थात् रामकी अनन्त शपथ है।—*'राममातु'* कहनेका भाव कि रामके लिये रामकी माताने कुछ न कहा। [पुनः, भाव कि जैसा स्वभाव रामका है वैसा ही उनकी माँका है। जैसे वे किसीसे वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते वैसे ही उनकी माता नहीं रखतीं। जैसे राम निर्लोभी हैं वैसी ही उनकी माता भी हैं। अथवा, और किसी सम्बन्धका नाम इस समय कथनयोग्य न जानकर *'राममातु'* कहा। (रा० प्र०)] (४) *'काऊ'*=कभी नहीं। अर्थात् कभी भी रामको राज्य देनेकी चर्चातक न की।

टिप्पणी—२ *'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें।''* इति। (क) रामका कसूर नहीं और न कौसल्याका ही, यह सब मेरा ही कसूर है कि मैंने यह सब *'तोहि बिनु पूँछें'* किया। उसीका फल पाया कि मनोरथ ही नष्ट हो गया, व्यर्थ हुआ। [छूँछा शब्द प्रायः छोटी वस्तुओंके लिये प्रयुक्त होता है बड़ीके लिये नहीं। यहाँ राजाका मनोरथ नष्ट हो जानेसे वे बड़े दीन वचन बोल रहे हैं, स्त्रीसे विनती करनी पड़ी; इसीसे

* रा० प० का अर्थ—'राममातुका स्वभाव कहता हूँ।'

कविने यहाँ क्षुद्र पदका प्रयोग किया—(खर्रा)]। (ख) *'सबु कीन्ह'*—अर्थात् तिलकका निश्चय किया, सुदिन शोधवाया, मङ्गल-साज सजाया इत्यादि। *'तोहि बिनु पूँछें'*—अर्थात् मैंने तिलकके लिये गुरुसे पूछा, फिर मन्त्रियोंसे सलाह ली, पर तुमसे नहीं पूछा यही भूल हुई। डरके मारे राजा मनोरथ भंग होनेका दोष कैकेयीको नहीं देते, सब दोष अपने ही सिर लेते हैं कि मेरा कसूर है कि तुझसे नहीं पूछा।

टिप्पणी—३ *'रिस परिहरु अब मंगल साजू'''* इति। (क)—रिस प्रत्यक्ष देख पड़ी, यथा—*'आगे दीखि जरत रिस भारी'* अतः कहते हैं कि रिस छोड़ो। (ख)—*'मंगल साजू'*—*'कुछ दिन गए भरत जुबराजू'* होंगे तो मङ्गलसाज अभीसे क्यों सजनेको कहते हैं? उत्तर—भरतजीके तिलककी शीघ्रता दिखाते हैं, जनाते हैं कि जबतक तुम मङ्गलसाज सजाओगी तबतक सुदिन भी आ जायगा, भरतके आते ही शुभ मुहूर्तमें हम तुरत राज दे देंगे इसीसे *'कछु दिन गए'* कहा। और मङ्गलसाज सजानेमें कई दिन लगते हैं इसीसे कहते हैं कि अभीसे साज सज लो जिसमें उनके आनेपर फिर विलम्ब न हो। (ग) कौसल्याको निर्दोष कहकर राजा अब कैकेयीका दोष दिखाते हैं कि तुम रिसानी हो, रिससे गुणमें भी अवगुण देख पड़ते हैं, इसीसे तुम कौसल्यामें दोष देख रही हो। अतएव रिस छोड़ो।

टिप्पणी—४ *'एकहि बात मोहि दुखु लागा'''* इति। कैकेयीने जो कहा था कि *'भरत कि राउर पूत न होहीं।'''जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे'*, उसपर राजा कहते हैं कि भरतके लिये राज्य माँगनेमें हमें दुःख नहीं हुआ, जैसा तुम समझती और कहती हो। दूसरा वर दुःखदायक है, वही असमंजसका वर है। देखिये, राजाको दूसरे वरसे ऐसी असह्य व्यथा होती है कि वे उसका नाम भी नहीं लेते, उसका स्वरूप यहाँ नहीं कहते, उसको जिह्वापर लाते डरते हैं—*'बचन बियोग न सकहिं सँभारी'*, (वियोगसूचक वचन भी कहते सहम जाते हैं।) (ख)—*'एकहि बात मोहि दुखु लागा'* इस कथनसे साफ न जान पड़ा कि किस बातसे दुःख लगा, उसीको उत्तरार्द्धमें स्पष्ट किया कि *'बर दूसर असमंजस मागा।'* अर्थात् प्रथम वर तो सुखका माँगा, भरतको राज्य देनेमें सुख होगा दूसरेमें दुःख होगा।

नोट—*'बर दूसर असमंजस मागा'''* इति। असमंजस कि उन्हें राज्य देनेको कहकर अब वन जानेको कैसे कहूँ? यथा—*'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू।'* (१४९। ७) लोक मुझे क्या कहेगा। सब कहेंगे कि दुरात्मा दशरथने अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया, स्वयं रहकर भी पिताका कर्तव्य न किया। श्रीरामजीको दुःखमें देखकर जगत्‌के सब लोग क्रोध करेंगे। स्नेह रखनेवाले पिता भी अपने पुत्रोंको छोड़ देंगे और स्त्रियाँ भी अपने-अपने पतियोंको छोड़ देंगी। रामके वनगमनसे कोई अयोध्यावासी न जियेगा। मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे स्वर्ग जानेपर देवता रामचन्द्रकी कुशल पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा? तुझे भी लोग क्या कहेंगे? मन्त्रियों, देश-देशान्तरके राजाओं इत्यादि सभीकी सम्मति लेकर मैंने रामको युवराज बनानेका निश्चय किया था, वे सब यही कहेंगे कि राजाकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। रामके वन जानेपर कौसल्या क्या कहेंगी, उसने मेरा सदा प्रिय किया पर तेरे भयसे मैंने कभी उनका सम्मान नहीं किया, तेरे सम्मानका यही फल है कि राम वन जायँ, मैं कौसल्याको क्या उत्तर दूँगा। सुमित्रा भी सहम जायगी, सीताका दुःख देखकर मैं जी न सकूँगा। तुम्हारे अनुरागके कारण सब मेरी निन्दा करेंगे। इत्यादि जो वाल्मी० २ सर्ग १२, १३ में है वह सब *'असमंजस'* का भाव ही है।

वि० त्रि०—असामञ्जस्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दूसरे वरका प्रसङ्ग क्यों उठा? यदि कहा जाय कि भरतके राज्यमें रामजी या उनकी माताद्वारा विघ्नाचरणका भय है, अतः रामजीको वन देना आवश्यक है, तो यह बात भी नहीं है। यह बात तो तब होती, जब रामजीको राज्यका लोभ होता, या भरतसे अनबन होती या रामके तिलकके निश्चयमें कौसल्याका कुछ हाथ होता। इन सब कारणोंके न होते हुए, नाहक रामको वनवास कैसे दे दें। इस बातका मुझे बड़ा भारी दुःख हुआ। उसीके तापसे इस समय भी कलेजा जल रहा है। ऐसी निर्मूल बातें तो केवल क्रोधमें कही जाती हैं, जो केवल उतने ही कालके लिये सच्ची होती हैं जितने कालतक क्रोध बना हुआ है, अथवा हँसीमें कही जाती हैं, और उसका

प्रभाव तभीतक रहता है, जबतक परिहास चल रहा है, और वास्तवमें सत्यरूपसे ऐसी निर्मूल बात तो नहीं कही जाती। अत: रिसमें या परिहासमें तुमने ऐसा कहा हो तो सामञ्जस्य बैठ जाता है और यदि वास्तवमें सत्यरूपसे कहा है, तब तो घोर असामञ्जस्य है।

टिप्पणी—५ *'अजहूँ हृदय जरत…'* इति। (क) *'अजहूँ'* कथनका भाव कि ज्यों ही तुमने यह वर माँगा त्यों ही मैं सुनकर उसकी आँचसे जल गया। यथा—*'दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।'* और, अब भी उसको समझकर उसके कारण, उसकी आँचमें हृदय दग्ध हो रहा है। पुन:, जब तुमने वर माँगा तबसे अबतक कितनी देर हो चुकी तब भी वह जलन हृदयसे नहीं गयी। (ख)—*'रिस परिहास साँचेहु साँचा।'* राजाको कैकेयीमें तीनों बातें देख और समझ पड़ीं। *'आगे दीखि जरत रिस भारी',* इससे रिसकी प्रतीति हुई। *'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली',* इसमें परिहासकी प्रतीति हुई। और, *'देन कहेउ अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥'* इससे सत्यकी प्रतीति हुई। रिस प्रत्यक्ष देख पड़ती है, अत: उसे प्रथम कहा। रिससे कहती है इससे रामको वन न भेजेगी और हँसी करती है। इससे भी रामको वनवास कदापि न देगी, इन दोमें भय नहीं है; पर सत्यासत्य *'साँचेहु साँच'* अगर वह ऐसा कह रही हो तो अवश्य वन देगी।

नोट—*'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा'* इति। राजाका तात्पर्य यह है कि हमें विश्वास नहीं होता कि तुमने जो कहा वही सचमुच चाहती हो। इसीसे सन्देह निवारणार्थ पूछते हैं कि तुमने क्रोधके आवेशमें तो ऐसा नहीं कहा; क्योंकि क्रोधके आवेशमें लोग अनुचित कह जाते हैं, यथा—*'जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल।'* (१। २७७) *'क्रोधके परुष बचन बल।'* अथवा, हमारा हृदय टटोलनेके लिये कि देखें भरतपर कैसा प्रेम है तुम हमसे हँसी कर रही हो या कि सचमुच यह वर माँग रही हो। (वाल्मीकीय २। १२। २०) में भी राजाने कहा है कि मैं इसे सत्य नहीं समझता, इन बातोंपर मुझे विश्वास नहीं होता; क्योंकि आजतक तुमने मेरी कोई बुराई नहीं की। यथा—'**नहि किञ्चिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम। अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते**'। फिर तुमने मुझसे बारंबार कहा है कि मुझे जैसे भरत प्रिय हैं वैसे ही राम, तब उनको वनमें भेजना कैसे चाहोगी? यथा—'**ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना। बहुशो हि स्म बाले त्वं कथा: कथयसे मम।**' (२१)…' हमारा प्रेम भरतपर है या नहीं, यदि यह देखनेके लिये तुमने ऐसा कहा है तो हर्ज नहीं, तुम देख लो, मैं तुम्हारा वह कहा हुआ किये देता हूँ, भरतको राज्य दिये देता हूँ। यथा—'**अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये। अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति।**' (२। १२। १६) रिस और हँसीमें बातको डालकर राजा उसके वचनको छुड़ाना चाहते हैं; इसीसे रिस और परिहास प्रथम कहा।

कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ राम सुठि साधू॥ ६॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू॥ ७॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥ ८॥

अर्थ—क्रोध छोड़कर रामका अपराध बता। सभी कोई कहते हैं कि राम अत्यन्त साधु हैं॥ ६॥ तू स्वयं भी सराहती और प्रेम करती थी। अब तेरा वचन सुनकर मुझे संदेह हुआ॥ ७॥ जिसका स्वभाव शत्रुको भी अनुकूल (हितकर और रुचिकर) है, भला वह माताके प्रतिकूल व्यवहार कैसे कर सकता है?॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कहु तजि रोषु राम अपराधू।…'* इति (क)—क्रोध त्यागकर अपराध बतानेको कहते हैं। भाव कि क्रोधसे उनकी साधुता नहीं देख पड़ती; क्योंकि क्रोध अँधियारी रातके समान है, यथा—'**घोर** *क्रोध तम निसि जो जागा।'* (४। २१) क्रोधमें सूझता नहीं, विचार नहीं रहता, लोग कुछका कुछ कह डालते हैं फिर शान्त होनेपर पछताते हैं; अत: 'क्रोध' छोड़कर विचार देखो तो उनमें कोई अपराध न

पाओगी। प्रमाण जैसे बालिको न सूझा—*'कहा बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।'*...।'(ख)—*'सबु कोउ कहइ'* अर्थात् कुछ मैं ही नहीं वरन् शत्रु, मित्र और उदासीन सभी कहते हैं, यह नहीं कि उदासीन न कहते हों जैसा कि उनका स्वभाव है। यथा—*'तुलसी बयर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि। सुरहि सेवरा आदरहिं निदरहिं सुरसरि बारि॥'* (ग)—*'सुठि साधू'* से जाना गया कि 'साधारण साधु' भी होते हैं। अत्यन्त साधु अपराध कभी नहीं करते, यथा—*'बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥'* (१। ३। १०) और जो साधारण साधु हैं उनसे कभी-कभी अपराध भी हो जाता है, यथा—*'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥'* (१। ७। २)

नोट—१ *'कहु राम अपराधू'*—भाव कि हमारे यहाँ हजारों स्त्रियाँ, नौकर हैं, परिजन, परिवारवाले इत्यादि हैं, पर रामजीके सम्बन्धमें कभी कोई परिवाद वा अपवाद (सकारण वा निष्कारण निन्दा) नहीं सुना गया। वे तो बड़े प्रिय बोलनेवाले हैं, फिर तुम्हारे साथ उनका सदा माताका-सा व्यवहार रहता है, भरतसे अधिक वे तुम्हारी सेवा करते हैं। सबके साथ वे शुद्ध चित्तसे व्यवहार करते हैं। तब तुम्हारा कोई अपराध किया हो, यह विश्वास नहीं होता। जब कोई भारी अपराध या पाप करता है तब उसे देश-निकाला दिया जाता है। अतः बिना अपराधके उन्हें वन कैसे देती हो। बताओ, तुम्हें उनसे क्या आशङ्का है?

नोट—२ *'सुठि साधू'* अर्थात् वे देवोपम महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं। क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता इत्यादि गुणसम्पन्न हैं। यथा—'**सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा। गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः॥**' (२८)'''**तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्। पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि॥**' (३१) '**क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता। अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम॥**'(३३) (वाल्मी० २ सर्ग १२) पुनः '**पुत्रः स महात्मा।**' इत्यादि जो-जो वाल्मीकीयमें कहा है वह सब 'सुठि साधु' से पूज्यकविने जना दिया है। सारांश यह कि साधु सन्मार्गवर्ती होते हैं और राम तो सुठि साधु हैं; इनमें तो अधर्म छू भी नहीं गया, चाण्डाल और अधर्मी देशसे निकालकर वनमें भेजे जाते हैं, वध न किये गये तो निकाल ही दिये गये; और राम तो सुठि साधु हैं तो फिर उन्हें क्यों वन देती है?

नोट—३ वि० त्रि०—(क) *'कहु राम अपराधू'*—भाव कि यदि वस्तुतः रामने कोई अपराध किया है, और दण्डके रूपसे तुमने दूसरा वर माँगा है, तो वह अपराध मुझे भी मालूम होना चाहिये, जिससे मेरा मनस्ताप घटे, मैं समझ सकूँ कि जो मैं कर रहा हूँ, उचित कर रहा हूँ। कहनेसे बात स्पष्ट हो जायगी। बहुत सम्भव है कि तुम्हारे समझनेमें भूल हो और रामका अपराध न निकले; क्योंकि सब कोई कहते हैं कि रामजी अत्यन्त साधु हैं, और साधुसे किसीके कार्यकी हानि नहीं होती, यथा—*'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (ख) *'तुहूँ सराहसि'''*' इति। भाव कि आज तुम रामको वनवास माँग रही हो, कलतक तो तुम रामजीकी प्रशंसा करती थीं और स्नेह करती थीं। ऐसे स्नेही और प्रशंसकके मुखसे ऐसी बात सुनकर मुझे संदेह हो रहा है, नहीं तो राम अपराध करें, ऐसा हो नहीं सकता। तुम अपराध बतला दो, मैं उसकी जाँच करूँगा।

नोट—४ *'अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू'*—पहले तुम कहा करती थी कि 'राम ज्येष्ठ पुत्र हैं, वे धर्मसे बड़े हैं, मुझे भरत जैसा मान्य है, राम उससे भी अधिक मान्य हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे अधिक मेरी सेवा करते हैं। राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं। वे धर्मज्ञ, गुणवान्, संयत, सत्यप्रिय और शुद्धचरित्र हैं। राम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं', यथा—**धर्मज्ञो गुणवान्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्छुचिः।'''यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः। कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥'''मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः।**' (वाल्मी० २। ८। १४, १८, १९) '**स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे।**' (२। १२। १७) *'प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे'* (इत्यादि जो मन्थरासे कैकेयीजीने कहा है, वह सब राजासे कहा करती थीं। स्नेह करनेका प्रमाण ये सब वचन हैं और

पूर्व *'मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥'* (१५। ७) में भी लिखा जा चुका है) अब रामजीका अभिषेक सुनकर प्रसन्न होना चाहिये था; क्योंकि *'भामिनि भयउ तोर मन भावा'*, किंतु आज उलटे तुम अभिषेक सुनकर दुःखित हुईं, प्राणप्रिय पुत्रको वन भेजनेको कहती हो, दूसरोंके बहकानेसे नीतिविरुद्ध करने जा रही हो; इससे निश्चय होता है कि तुम्हारा राममें स्नेह नहीं था, सम्भवतः तुम मुझे प्रसन्न करनेके लिये झूठा स्नेह दिखाया करती थीं और प्रिय बोला करती थीं। यथा—**तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत्॥** (१७) **'तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम्।'** (वाल्मी० २। १२। १८) झूठे प्रलोभनके वचनोंसे मुझे भुलावा देनेके लिये ही प्रिय बातें किया करती थीं—**'अमृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे।'**(श्लो० ७७) [इससे यह भी जनाया कि श्रीरामजी तो अपराध कर नहीं सकते, तेरी ही बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब·········'* इति। मुखसे सराहना किया करती थी, इतना ही नहीं किंतु हृदयसे स्नेह भी करती थी; इसीसे अब मुझे संदेह हो गया कि तूने *'बर दूसर असमंजस माँगा'* यह कैसे? क्या तूने श्रीरामजीमें जो स्नेह था उसे छोड़ दिया, या वह स्नेह ही झूठा था, अथवा रामजीने अपनी साधुता छोड़ दी? किस कारणसे तूने राम-वनवास माँगा? इससे यह भी जनाते हैं कि यदि पहले तू प्रशंसा और स्नेह न करती होती तो संदेह न होता। हाँ! एक कारण यह हो सकता था कि रामजीने माताके प्रतिकूल कोई काम किया होगा; पर वे ऐसा कदापि नहीं करेंगे क्योंकि *'जासु सुभाउ····।'*

टिप्पणी—३ *'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।····'* अर्थात् रामजी माताके प्रतिकूल कदापि न करेंगे। इससे रामजीकी साधुता पुष्ट की कि वे अपनी साधुता न छोड़ेंगे, तूहीने क्रोधके आवेशमें रामजीमें स्नेह छोड़ दिया। सो हे प्रिये! रिसको छोड़ दे। *'अरिहि'* अर्थात् अनहित करनेवालेके अनुकूल कोई नहीं होता पर श्रीरामजी उसके भी अनुकूल रहते हैं, उसका भी हित ही करते हैं, यथा—*'उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥'* (६। ४४) पुनः यथा—*'बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥'* (२००। ७), *'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'* (१८३। ६) देखिये बालिने प्रशंसा की है कि हमारे लिये आपने अपनी प्रतिज्ञा त्याग करना स्वीकार किया तभी तो आपने कहा कि *'अचल करउँ तन राखहु प्राना'*, नहीं तो आप तो प्रतिज्ञा कर चुके थे कि *'ब्रह्म रुद्र सरनागत गये न उबरिहि प्रान।'* मारीच आदिने प्रशंसा की। देखिये पत्नी-हरण करनेवाले रावणके पास जब अङ्गदको भेजा तब उनसे यही रामजीने कहा कि—*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'*, (इतनेपर भी शत्रुका हित ही चाहते हैं)। भाव कि जब वे शत्रुके अनुकूल रहते हैं तब भला वे माताके प्रतिकूल कैसे करेंगे? कदापि नहीं। पुनः भाव कि [उदासीन उनका स्वभाव देखकर उदासीनता छोड़ मित्र हो गये। शत्रु प्रतिकूलताको त्यागकर अनुकूल हो गये। ऐसा जिनका स्वभाव है वे माताके प्रतिकूल कब हो सकते हैं? यह विश्वास करनेकी बात नहीं है (वै०)]

दो०—प्रिया हास रिस परिहरहि मागु बिचारि बिबेकु। जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु॥ ३२॥

अर्थ—हे प्रिये! हँसी और क्रोधको छोड़ दो। विवेकसे विचारकर वर माँगो, जिससे मैं अब नेत्र भरके भरतका राज्याभिषेक देख सकूँ॥ ३२॥

नोट—१ राजाने अपने इन वचनोंसे एक वर (भरतराज्य) को तो पक्का कर ही दिया। वे कहते हैं कि ऐसा कर कि मैं भी नेत्र भर भरतराज्य देखूँ। अर्थात् यह वर मैंने तुझे दिया, भरत राजा हों। और दूसरे वरके बारेमें कहते हैं कि हँसीसे माँगा हो, चाहे रिससे माँगा हो, हँसी और रिस दोनोंको छोड़ दो, क्योंकि इसके कारण मुझे बड़ी व्यथा हो रही है। विवेकसे विचार करके दूसरा वर माँगो जिसमें मैं भरतराज्य देख सकूँ। आशय यह कि मेरा भरतराज्य देखना तेरे दूसरे वरके अधीन है। यदि दूसरे

वरसे रामको वनवास माँगोगी तो समझ लो कि मैं भरतका राजतिलक कैसे देख सकूँगा? यथा—*'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥'* राम वन गये तो मैं जीता न रहूँगा, यथा—*'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।'* विचार न करोगी तो भरतका तिलक कौन देखेगा? इस प्रकार इन वचनोंसे सुझाते हैं कि वनवास न माँगो। यह नहीं कहते कि दूसरा वर न दूँगा। मैं भरतराज्य देखना चाहता हूँ, वह उपाय कर कि उसे देख सकूँ। जिससे वह प्रसन्न हो जाय कि हमारे पुत्रका राज्य देखना चाहते हैं, इससे दूसरा वर ऐसा न सही। इसमें एक प्रकारका लोभ उसे देते हैं। २—हँसी और रिसको छोड़नेको कहा, क्योंकि तब यह वर भी न रहेगा। *'साँचेहु साँचा'* के बारेमें कहा कि *'माँगु''देखौं।'* अर्थात् सत्य ही वर माँगा है तो मैं विनय करता हूँ कि इसपर विवेकसे विचार कर लो।

टिप्पणी—१ (क) *'हास रिस परिहरहि'* रानीने रुष्ट होकर वर माँगा है; अतः रिस छोड़नेमें उसे संकोच होगा कि किस बहाने उसे छोड़ूँ, यह समझकर राजा 'हास्य' त्याग करनेको कहते हैं। वे कहते हैं कि हास्यके बहाने रिसको त्यागकर रामको घर रखो। अर्थात् यह कह दो कि मैं हँसी करती थी, मुझे कुछ रामसे वैर तो था ही नहीं जो ऐसा वर माँगती, हास्यसे ऐसा वर माँगा था। दूसरे इससे भी हास्य छोड़नेको कहते हैं कि यदि हँसीका बहाना न होगा तो रिस छोड़नेपर रामको घरमें रखा तो भी जीमें वैर बना ही रहेगा। (ख) *'माँगु'*—राजा फिरसे वर माँगनेको कहते हैं। आशय यह है कि किसी तरह कैकेयी अपने मुखसे कह दे कि राम घर रहें, भरतको राज्य हो। (ग) *'माँगु बिचारि बिबेकु'* अर्थात् भरतको राज्य हो, इसीसे काम है, रामके वन जानेसे तो तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उनके वन जानेका क्या काम? रामजीका अपराध कुछ नहीं है। बिना अपराधके उन्हें व्यर्थ दण्ड देना विवेक नहीं। सभी रामको साधु कहते हैं; तुम उनको वन दोगी तो सभी तुम्हारी निन्दा करेंगे। रामको वन माँगना अविवेक है, घरमें रखना विवेक है।

वि० त्रि०—कैकेयी चुप है, कोई उत्तर नहीं देती। तब महाराज कहते हैं कि जब तुम कोई अपराध नहीं बतला सकती, तब तुम्हारा माँगना वास्तवमें सत्य नहीं हो सकता। या तो तुम परिहास कर रही हो, या निर्मूल क्रोध कर रही हो। यहाँ मेरे जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित है, अतः हास्य और क्रोधको छोड़ दो। तुम्हारी माँग अविवेकयुक्त है, क्योंकि इसके पूरा करनेमें मेरा प्राण जायगा। साध्वी स्त्रीके लिये पतिके प्राणसे बढ़कर जगत्‌में कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतः इस वरके बदलेमें कोई दूसरा वर माँगो, जिसमें मेरा प्राण तो बचा रहे, यथा—*'गुरु गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'* (५०। ४) मैं आँख भरकर भरतका राज्याभिषेक देख लूँ। नहीं तो भरतके राज्याभिषेकके पहिले ही मेरा प्राण चला जायगा।

यहाँपर महाराजने स्पष्ट दिखला दिया कि मेरे लिये भरत और राम समान हैं। यथा—*'मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहौं करि संकर साखी॥'* और प्रिया सम्बोधन करके यह दिखलाया कि मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध ऐसा है कि बिलकुल बेलगाव होकर वरदान माँगना उचित नहीं है। दाम्पत्य-भावकी रक्षाके लिये आपसमें समझ-बूझ लेना धर्मतः प्राप्त है।

नोट—२ *'बिचारि बिबेकु'* इति। भाव कि महात्मा, धर्मज्ञ, परमसाधु, सुकुमार और प्राणप्रियको बिना अपराध भयानक वनमें भेजना, बिना अपराध देशसे निकाल देना और पतिकी अपकीर्ति कराना तथा वैधव्य लेना इत्यादि विकृत बुद्धिवालीका ही काम है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे रामवनगमन तुमको स्वयं अनुचित जान पड़ेगा और तब उसे स्वयं न माँगोगी अतः विवेकसे विचार करनेको कहा। यथा—**'शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुपाहृतम्॥' 'कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।'** (वाल्मी० २। १३। २१-२२) अर्थात् तुम सहृदय हो, दूसरोंके दुःख-सुखको समझती हो, जो मैंने कहा है वह शून्यमें नहीं कहा है। तुम सब बातोंपर विचार करो।

जिअइ* मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिअइ[१] दुख दीना॥ १॥
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥ २॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥ ३॥

शब्दार्थ—**मीन**=मछली। **बिहीना**=रहित, बिना। **फनिकु**=सर्प। **दुख दीना**=दुःखसे दीन होकर। **प्रबीना**=(प्रवीण) चतुर।

अर्थ—चाहे मछली बिना पानीके भले ही जीती रहे, सर्प बिना मणिके दुःखसे दीन होकर (भले ही) जीता रहे॥ १॥ (परंतु) मैं स्वभावसे कहता हूँ, मनमें छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन रामके बिना नहीं हो सकता॥ २॥ हे प्रवीण प्रिये! हृदयमें विचारकर देख कि मेरा जीवन रामदर्शनके अधीन है॥ ३॥

नोट—१ भाव यह कि मछली पानीके बिना छटपटाकर तुरत मर जाती है, यथा—*'जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को।'* (वि० १७८) सर्प मणिके निकल जानेसे तड़पता है, यथा—*'मणि लिए फणि जियै ब्याकुल बिहाल रे।'* (वि० ६७) इनकी प्रकृति चाहे बदल जाये, ये न मरें, पर मैं कदापि नहीं जी सकता। इससे जनाया कि दोनोंसे अधिक मेरा प्रेम राममें है। पूर्वजन्मका यही वर है—*'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'* (१। १५१) इसीसे ये दोनों दृष्टान्त इस समय मुखसे निकल पड़े हैं।

नोट—२ यहाँ विचार देखनेको कहते हैं; अतः 'प्रवीण' विशेषण दिया; चतुर लोग ही विचार करते हैं। पुनः, व्यङ्गसे जनाते हैं कि अन्यथा तुम 'प्रवीणा' और 'प्रिया' कहे जानेयोग्य न रह जाओगी। (रा० प्र०) *'कहउँ सुभाउ''''नाहीं।'* इस बातको विशेष प्रमाणके द्वारा पुष्ट करना 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है। *'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'* में 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है। (वीर)

टिप्पणी—१ *'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं'''* इति। मेरे मनमें छल नहीं है। छल यह कि रामवनगमनसे अपना मरण इसलिये सुनाते हैं जिसमें अपने वैधव्यके डरसे रामको घरमें रहने दे, बन न भेजे। पुनः, (ख)—मछली और सर्पके दृष्टान्तसे छल पाया जाता है; क्योंकि संदेह होता है कि इनका तो तत्क्षण मरण हो जाता है, ऐसा मरण और किसीका हो नहीं सकता, राजा जो अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि ऐसे ही हम भी बिना रामजीके मर जायँगे सो झूठ है, वे छलसे ऐसा कहते हैं जिसमें रामको वन न भेजूँ। इस संदेहके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि *'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं'* अर्थात् निष्कपटभावसे सत्य कहता हूँ।

टिप्पणी—२ *'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना।'''* इति। (क) प्रवीणा हो, स्वयं चतुर हो, अतः तुमसे बहुत क्या कहूँ, तुम स्वयं विचार देखो। (ख)—प्रथम दो दृष्टान्त, मणि और फणिके दिये, अब अपने न जीनेमें दोनोंसे समानता कहते हैं। *'कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥'* यह मीनकी समता है। बिना जलके मछलीका जीवन नहीं, यथा—*'जल बिनु थल कहाँ मीचु बिनु मीन को।'* (इति विनय०) इसी तरह बिना रामके मेरा जीवन नहीं। *'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥'* यह सर्पकी समता है। सर्प मणिको देखकर जीता है, मैं रामको देखकर जीता हूँ। दोहा ३०में राजाको 'धर्मधुरन्धर' विशेषण दिया गया। उन्होंने धर्मकी बातें कहीं, अपना और राजाका धर्म रखनेकी बातें कहीं, स्वयं विचार करनेको कहा; इत्यादि। और वहाँसे यहाँतक उनके वचनोंमें 'प्रिय' वा 'प्रिया' सम्बोधन तीन बार आया। अब आगे 'प्रिया' सम्बोधन न देंगे।

वि० त्रि०—रामजीके दर्शन बिना तो सम्पूर्ण अयोध्याको प्राण-सङ्कट उपस्थित होगा, यथा—*'रामदरस हित लोग सब करत नेम उपवास। परिहरि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥'*, परंतु मैं तो उतना ठहर न सकूँगा, बिना जलकी मछलीकी भाँति सद्यः प्राणत्याग करूँगा। यद्यपि प्रेम आँखोंसे देखा नहीं जाता, परंतु व्यवहार देखकर मनसे लखा जाता है, यथा—*'जीवन तरु जिमि जोगवत राऊ'*, और लखनेवालेने

* जिऐ-गी० प्रे०। १. जिअई-रा० प०।

लखा भी, यथा—*'नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥'* (७३) अत: चक्रवर्तीजी कहते हैं कि हे प्रिये! तू तो प्रवीण है, समझकर जीसे देख ले कि मैं क्या राम बिना जी सकूँगा? अत: तू प्रिया होकर प्राणदण्ड मुझे दे रही है।

सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहु अनल आहुति घृत परई॥ ४॥
कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥ ५॥
देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं। मोहिं* न बहुत प्रपंच† सोहाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**आहुति**=मन्त्र पढ़कर देवताके लिये जो द्रव्य (साकल्य) अग्निमें डाली जाती है, होम-द्रव्यकी वह मात्रा जो एक बार यज्ञकुण्डमें डाली जाय। **उपाया**=यत्न, तदबीरें। **माया**=छल-कपट, धोखा, चालबाजी। **प्रपंच**=झंझट, बखेड़ा, टालमटोलका बकवाद, माया।

अर्थ—राजाके मीठे कोमल वचन सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी अत्यन्त जल रही (कुढ़ रही) है मानो अग्निमें घीकी आहुतियाँ पड़ रही हैं॥ ४॥ वह कहने लगी कि आप कितने ही उपाय क्यों न करें यहाँ आपकी माया नहीं लगनेकी, चालें नहीं चलनेकी॥ ५॥ वरदान दीजिये, नहीं तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये। मुझे बहुत प्रपञ्च नहीं अच्छे लगते।

नोट—राजाके वचनका उपक्रम ***'बोले''बानी सबिनय तासु सोहाती।'*** (३१। ४) से किया था और उपसंहार ***'सुनि मृदु बचन'*** से किया। ***'प्रिया'*** सम्बोधनसे वचनोंका आरम्भ हुआ, यथा—***'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती।'*** (२१। ५) और उसी सम्बोधनसे समाप्ति की, यथा—***'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना।'*** विनीतयुक्त होनेसे सब मृदु हैं। उसने राजाका कहना न माना, विवेकसे विचार न किया। अत: कवि उसे यहाँ ***'कुमति'*** विशेषण देते हैं।

टिप्पणी—१ ***'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई।''''*** इति। (क) मृदु वचन सुनकर जली, इसीसे ***'कुमति'*** विशेषण दिया। ***'अति जरई'*** अर्थात् जल तो प्रथमसे रही थी, यथा—***'आगे दीखि जरत रिस भारी'***, पर अब 'अत्यन्त' जलने लगी, दाह अधिक हो गया। (ख) ***'मनहुँ अनल आहुति घृत परई'***—यहाँ क्रोध अग्नि है, मृदु वचन घृत है। वचन कोमल और घृत कोमल। घीकी आहुति अग्निमें पड़नेसे आग प्रचण्ड होती है, वैसे ही मृदु वचन सुनकर क्रोध बढ़ा, यथा—***'लषन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु॥'*** (१। २७६) राजाके वचन कोमल, स्नेहमय, छलरहित, पवित्र और गुणद हैं इसीसे उन्हें घृतसे उपमा दी। (यहाँ 'दूसरा विषम', 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—चक्रवर्तीजी उसे अच्छी लगनेवाली सविनय वाणी बोले। यदि वह सुमति होती तो उसका क्रोध शान्त हो जाता, पर कुमति होनेके कारणसे उसका क्रोध बढ़ता ही चला गया। **'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥'** (गीता १८। ३२) तमोगुणसे आवृत होनेके कारण जो बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती हो, सब अर्थोंको विपरीत मानती हो, वही बुद्धि तामसी है, अर्थात् कुमति है। कुमति कैकेयीने महाराजके युक्तियुक्त विनम्र वचनको माया माना। समझा कि यह सब मुझे अपने ध्येयसे विचलित करनेके उपाय हैं। ये मन-मलीन मुँह-मीठ हैं। इसी भाँति मीठी बात करके अपना काम निकालते हैं और सत्यवादी भी बने रहते हैं। मन्थराने ठीक कहा था कि ***'सहसा जनि पतियाहु।'*** अब मैं सजग हूँ, इनके फंदेमें आनेवाली नहीं। अत: महाराजके स्नेहमय हितकर वचनोंने कैकेयीके कोपानलके उद्दीपनका काम किया।

टिप्पणी—२ ***'कहइ करहु किन कोटि उपाया।''''*** इति। (क) ***'कोटि'***—राजाने अपनी, कौसल्याजीकी और रामजीकी सफाईमें जो बातें कहीं, यथा—***'लोभु न रामहिं राज कर बहुत भरत पर प्रीति', 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति', 'राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥'***

* 'मोहि' (भा० दा०, पं० रामगु०)। 'मोंहिं' (राजापुर)। † 'परपंच' (भा० दा०, पं० रामगु०)।

उसीपर कैकेयी कहती है कि तुम अनेकों उपाय क्यों न करो, यहाँ तुम्हारी माया न लगेगी। राजा भरतको राज्य देनेको कहते हैं, भरतको रामके समान प्रिय कहते हैं, राम बिना अपना मरण सुनाते हैं, रामको घरमें रखनेके लिये यह सब माया है। (ख)—*'इहाँ न लागिहि राउरि माया'*—भाव यह कि जो छलीका छल-कपट न जान पावे उसको माया लगती है। मैं तो तुम्हारा सब छल-कपट जानती हूँ, मन्थराने सब लखा दिया है, इससे तुम्हारी माया न लगेगी। [*'मन मलीन मुँह मीठ नृप'* मन्थराके इन वचनोंको स्मरण करके कैकेयी ऐसा कह रही है। (रा० प्र०) राजाने जो कहा था कि *'मागु बिचारि बिबेकु'* उसीपर वह कहती है कि आपकी माया यहाँ नहीं लगनेकी। अर्थात् मैं अपनी जिद्द नहीं छोड़नेकी, रामको वन भेजना धर्म हो वा अधर्म, रामको, कौसल्याको, तुमको दुःख हो, तुम्हारा चाहे मरण हो इन बातोंकी मुझे परवा नहीं। वरमें रद्दोबदल नहीं होगा, चाहे कितना ही तुम गिड़गिड़ाओ। यथा—'**भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्। यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥**' (वाल्मी० २। १२। ४६)

(ग) पण्डितजी—तुम्हारे राजनीतिमें चार उपाय हैं—साम, दाम, भेद, दण्ड (**नीत्योपायचतुष्टयम्**), अथवा सात 'उपेक्षा इन्द्रजाल' सो इन सातोंमेंसे भेदको तुम काममें ला रहे हो, सो ये कोई यहाँ न लगेंगे। रानी देवमायाके वशमें है; अतः सरस्वती उससे *'राउरि माया न लागिहि'* ऐसा कहलाकर सूचित करती है कि यहाँ तो ब्राह्मी (देव) माया लगी हुई है उसके सामने नर-माया क्या चीज है जो लगेगी।

टिप्पणी—३ *'देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।'''* इति। रानी अपना प्रयोजन चाहती है, इसीसे वह सब जगह पहले *'देहु'*, यही कहती है, यथा—*'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।'* (३०। ४) तथा यहाँ *'देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।' 'मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥'*, यही बात इसके ऊपरकी अर्धालीमें कही थी कि *'इहाँ न लागिहि राउरि माया।'* प्रपञ्च और माया एक ही बात है। राजाके वचनोंको प्रपञ्च समझती है। तात्पर्य यह है कि मैं एक ही बात जानती हूँ कि वर दो या नहीं कर दो और प्रपञ्चसे मुझे कुछ मतलब नहीं।

राम साधु तुम्ह साधु सयानें। राममातु भलि सब पहिचानें॥ ७॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका॥ ८॥

शब्दार्थ—**भल ताका**=(यह मुहावरा है) बुरा चाहा (व्यङ्गसे ऐसा अर्थ किया जाता है)। **साका** (शाका)=ख्याति, प्रसिद्धि, कीर्तिका स्मारक। *'करि साका'* अर्थात् ऐसा फल चखाऊँगी कि मरनेपर भी न भूले, डंका बजाकर, डंकेकी चोटपर। ऐसा बड़ा काम करना कि जिससे कर्त्ताकी कीर्ति बहुत दिनोंतक चले, जैसे शालिवाहनका शाका संवत्, विक्रमादित्यका संवत् इत्यादि।

अर्थ—राम साधु हैं, तुम सयाने साधु हो और रामकी माता भली (साधु) हैं, सब मेरे पहिचाने जाने हुए हैं॥ ७॥ कौसल्याने मेरा जैसा भला ताका वैसा ही फल मैं उन्हें स्मारक बनाकर दूँगी (कि जन्मभर न भूलें)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'राम साधु तुम्ह साधु सयानें।'''* इति। (क) *'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू,'* राजाके इन वचनोंके उत्तरमें यह कहा है। *'सब पहिचानें'* अर्थात् मैं सबको खूब जानती हूँ जैसे कुछ हैं। क्या जानती है? उत्तर—वही जो मन्थराने जनाया है कि (१) राम तुम्हारे वैरी हैं, यथा—*'प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥ रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समर फिरे रिपु होहिं पिरीते॥'* (१७। ५-६) अर्थात् पहले प्रिय थे, अब रिपु हैं। (२) कौसल्या वैरिणी है, यथा—*'जरि तुम्हार चह सवति उखारी।'* (१७।८) (३) राजा कपटी हैं। यथा—*'मन मलीन मुँह मीठ नृप।'* (१७) (ख) *'साधु सयानें'* का भाव कि सब साधु हैं और आप सबके गुरु हैं। भाव यह कि सबके सब ऊपरसे साधु बने हैं, ऊपरसे आप सब स्नेह दिखाते हैं पर भीतर सबके कपट भरा है, कोई भी हृदयसे हमारा भला नहीं चाहता। ऐसे लोग पहिचाने नहीं जा सकते पर मैंने तुम सबको पहिचान लिया है।—इन वचनोंमें 'व्याज-निन्दा' अलङ्कार है। पुनः, *'सयानें'* अर्थात् स्वार्थके लिये साधु बने हो।

टिप्पणी—२ *'जस कौसिला मोर भल ताका'* इति। अर्थात् वे मेरी जड़ उखाड़ना चाहती थीं, मैं उनकी जड़ उखाड़ूँगी। वे मुझे दासी बनाना चाहती थीं, मैं उनको दासी बनाऊँगी। वह मेरे पुत्रको निकालकर अपने पुत्रको राज्य देना चाहती थीं, मैं उनके पुत्रको निकालकर अपने पुत्रको राज दूँगी। इस प्रकार जैसा-जैसा उन्होंने मेरे लिये सोच रखा था वैसा ही मैं उनके साथ करूँगी। *'करि साका'* अर्थात् यह बात अधिक करूँगी, उन्होंने छिपकर मेरा भला ताका था और मैं तो जाहिर करके (डंकेकी चोटपर) उन्हें सब फल चखाऊँगी। कैकेयीके इस वचनका वही अभिप्राय है जो मन्थराके इन वचनोंका है—*'जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यहु फल परिपाका॥'* (२१। ५) कैकेयी उसी बातको यहाँ कह रही है। यहाँ 'अन्योन्यालङ्कार' है।

नोट—१ राजाने कहा है कि *'देहुँ भरत कहुँ राज बजाई'* उसीके उत्तरमें यहाँ *'करि साका'* कहा। *'राम साधु…'* में व्यङ्ग है कि तभी तो भाईके सूनेमें अपना तिलक करा रहे हैं और भरतको बंदीखानेमें छोड़ना चाहते हैं, और तुमने और कौसल्याने एकमत होकर भरतको परदेशमें भेज दिया है, इत्यादि। *'बजाई'* का अर्थ 'गा-बजाकर, खुशीसे' भी है।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च। सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते॥' 'एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्। अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम॥'** (वाल्मी० २। १२) अर्थात् दुर्बुद्धि! तुम धर्म छोड़कर रामका राज्याभिषेक करके कौसल्याके साथ सदा रमण करना चाहते हो। रामकी माता राजमाता होकर सब लोगोंकी प्रणामाञ्जलि ग्रहण करेंगी और मैं अकेली देखा करूँगी, इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। श्लोक ४५ का भाव *'तुम साधु सयानें'* में और श्लोक ४५ व ४८ दोनोंका भाव *'राममातु भलि…'* में है।

दो०—होत प्रात मुनि बेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥ ३३॥

अर्थ—सबेरा होते ही मुनिवेष धारण करके जो राम वनको न गये तो हे नृप! मनमें समझ रखिये कि मेरी मृत्यु और आपका अपयश होगा॥ ३३॥

वि० त्रि०—*'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई'* का साफल्य दिखाते हैं। पहिले दूसरे वरके कार्यान्वित करनेमें शीघ्रताकी कोई बात न थी। क्रोध बढ़ गया है, अतः तुरंत उसे कार्यान्वित करना चाहती है। भरतका राज्याभिषेक कल नहीं हो सकता तो नहीं सही, भरतके आ जानेपर अभिषेक होगा, पर रामजीके वन जानेमें तो कोई अड़चन नहीं है। अतः यह वर तुरंत कार्यान्वित होना चाहिये। प्रातः होते ही रामजी वन जायँ। वनमें जाकर मुनिवेष न धारण करें, यहींसे मुनिवेष धारण करके वन चलें, संसार देख ले कि कपटसे राज्य चाहनेवालोंकी यही गति होती है, कौसल्या देख लें कि जिस पुत्रको उन्होंने राजवेषमें देखना चाहा था वह तपस्वीवेषमें वनवासके लिये जा रहा है।

यदि कहिये कि ऐसा होनेसे मेरा प्राण जायगा, ऐसा अनर्थ नहीं होना चाहिये तो देख लीजिये कि ऐसा न होनेसे कितना बड़ा अनर्थ होगा। मैं प्राण दे दूँगी और आपको अपयश होगा जिससे मर जाना कहीं अच्छा है। *'सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* यही अन्तिम निर्णय है।

टिप्पणी—१ (क) ये वचन राजाके *'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'* इन वचनोंके उत्तर हैं। वह कहती है कि तुम राम बिना नहीं जी सकते और मैं रामके घर रहनेसे नहीं जिऊँगी। राजाने कहा था कि *'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना'* उसके उत्तरमें कहती है कि *'नृप समुझिअ मन माहिं।'* (ख) कैकेयी जानती है कि राजा अपयशको डरते हैं इसीसे बारम्बार अपयश होना सुनाती है। यथा—*'देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥'* (३०। ५) *'देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥'* (३३। ६) तथा यहाँ *'मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं।'*

टिप्पणी—२ (क) —*'होत प्रात'* इति। राजाने कहा कि मेरा *'जीवनु राम दरस आधीना'* है। उसीकी जोड़में वह सुनाती है कि मेरा मरण 'रामदरश' से है। अत: वह कहती है कि वे प्रात:काल ही वनको चल दें, मैं उनको न देखूँ। (ख)—*'मोर मरन राउर अजसु'*—मरण और अपयश बराबर है बल्कि अपयश करोड़ों मरणके बराबर है, यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* तात्पर्य कि मैं मरूँगी सो अकेले नहीं तुम्हें मारकर मरूँगी; तुम जीनेके लायक न रह जाओगे।

नोट—१ *'समुझिअ मन माहिं'* का भाव कि आप सोच-विचार लें कि आपके लिये कौन अच्छा है—राम-वियोगमें एक ही बारका मरण, या अपयश लेकर जीते ही करोड़ों मरणके समान जीवन?

नोट—२ अ० रा० में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**वनं न गच्छेद्यदि रामचन्द्रः प्रभातकालेऽजिनचीरयुक्तः। उद्बन्धनं वा विषभक्षणं वा कृत्वा मरिष्ये पुरतस्तवाहम्॥**' (२। ३। ३१) अर्थात् यदि प्रात:काल ही राम वल्कलवस्त्र धारण कर वनको न चले गये तो मैं आपके सामने ही फाँसी लगाकर या विष खाकर मर जाऊँगी।—मानसमें *'राउर अजसु समुझिअ मन माहिं'* विशेष है।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु* रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ १॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ २॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूबरी बचन प्रचारा॥ ३॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥ ४॥

शब्दार्थ—**तरंगिनि**=लहर लेनेवाली, नदी। **जोई**=देखी। **कूल**=तट, किनारा। **प्रचारा**=प्रेरणा, फैलाव, उत्तेजित करनेवाले, रह-रहकर स्मरण होना। **ढाहत**=गिराती हुई। **अनुकूला**=सीधी, सम्मुख।

अर्थ—ऐसा कहकर कुटिला कैकेयी उठ खड़ी हुई। मानो क्रोधकी नदी बढ़ी हो॥ १॥ वह नदी पापरूपी पर्वतसे निकली है। क्रोधरूपी जलसे भरी हुई देखी नहीं जाती (ऐसी भयङ्कर है)॥ २॥ दोनों वरदान दोनों किनारे हैं। कैकेयीकी कठिन (न हटनेवाली) हठ ही नदीकी कठिन धारा है। कुबड़ी मन्थराके वचनोंकी प्रेरणा भँवर है॥ ३॥ यह रोष-नदी भूपरूपी वृक्षको जड़-मूलसे ढाहती हुई विपत्ति-समुद्रके सम्मुख (उसकी ओर, उससे मिलनेको) सीधी चली॥ ४॥

नोट—१ यहाँ कैकेयीका क्रोधपूर्वक उठ खड़ा होना उत्प्रेक्षाका विषय है। उत्प्रेक्षा करके रोषका नदीसे साङ्गरूपक बाँधा है। नदी टेढ़ी होती है इसीसे यहाँ कैकेयीको भी *'कुटिल'* विशेषण दिया।

'साङ्ग-रूपक'

नदी टेढ़ी होती है—'**नद्याः कुटिलगामित्वात्**'	१ कैकेयी कुटिल
तरंगिनी बाढ़ पाकर ऊँची उठती है	२ कैकेयी उठ खड़ी हुई, खड़ी होनेसे ऊँची हुई
तरंगिनी जलमय	३ कैकेयी रोषमय
नदी बहती और तटके वृक्षादिको उखाड़ बहाती है	४ कैकेयी आप बही और राजाको बहा ले गयी
नदी समुद्रको चली	५ यह विपत्तिमें पड़नेको चली
नदीमें क्षण-क्षणपर तरङ्गें उठती हैं	६ कैकेयीको क्षण-क्षणमें रोष होता है
नदी पहाड़से निकलती है	७ क्रोध-नदी पापसे प्रकट हुई
नदीकी बाढ़ देख डर लगता है	८ क्रोधीको देख डर लगता है
नदीके दो किनारे (तट, करार)	९ दो वरदान
धारा........................	१० कठिन हठ
भँवर........................	११ कुबरीके वचनोंका प्रचार

* 'मानहुँ'—(भागवतदास)। 'मानहु'—(राजापुर)।

नदी बाढ़में तटके वृक्षोंको ढाहती है	१२ कैकेयीके रोषमें राजा बह गये
तटके वृक्ष	१३ भूप
वृक्षोंकी जड़	१४ रामचन्द्रजी

☞ प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्लजी—मतलब निकालनेके लिये तैयार दुष्ट संसारमें कितनी भयङ्कर वस्तु है! क्रोधसे भरी कैकेयी रामको वन भेजनेपर उद्यत होकर खड़ी होती है। उस समय उसके कर्म और संकल्पकी सारी भीषणता गोचर नहीं हो रही है। देश और कालका व्यवधान पड़ता है। इससे गोस्वामीजी रूपकद्वारा उसे प्रत्यक्ष कह रहे हैं—

'पाप' और 'पहाड़' तथा 'क्रोध' और 'जल' में यहाँ अनुगामी धर्म है, शेषमें वस्तु-प्रतिवस्तु। जैसे नदीके दो कूल होते हैं वैसे ही उसके क्रोधके दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारामें वेग होता है वैसे ही हठमें है, जैसे भँवर मनुष्यका निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरीके वचन परिस्थितिको और कठिन कर रहे हैं। यह साङ्गरूपक कैकेयीके कर्मकी भीषणताको खूब आँखके सामने ला रहा है। भाव या क्रियाकी गहनता द्योतित करनेके लिये गोस्वामीजीने प्रायः नदी और समुद्रके रूपकका आश्रय लिया है। चित्रकूटमें अपने भाइयोंके सहित रामचन्द्र जनकसे मिलकर उन्हें अपने आश्रमपर ले जा रहे हैं। वह समाज ऐसे शोकसे भरा हुआ था कि उसका प्रत्यक्षीकरण भी रूपकहीद्वारा हो सकता था वैसा ही उन्होंने किया।

टिप्पणी—१ (क) ***'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी'*** इति। ***'भई उठि ठाढ़ी'*** अर्थात् लो, जो कुछ हमें कहना था सो कह दिया, अब मैं यहाँसे चली जा रही हूँ, मुख्य बात यही है, यही होगी। इसमें कुछ अदल-बदल नहीं होनेका। [अथवा, व्यर्थ प्रपञ्चकी बातें कौन सुने, ऐसी जगहसे टल जाना ही अच्छा। (रा० प्र०)] ***'मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी'***—रोषकी नदीकी उत्प्रेक्षा की। उठकर खड़ी होनेसे ऊँची हो गयी है इसीसे नदीकी बाढ़की उपमा दी गयी। ***'रोष तरंगिनि'*** अर्थात् जैसे नदी जलमय है वैसे ही कैकेयी रोषमय है। पुनः, जैसे बाढ़के जलसे बढ़ी हुई नदीमें बार-बार तरंगें उठती हैं वैसे ही इसमें क्षण-क्षणपर रोषकी तरंगें उठती हैं, यथा—(१) ***'मानहु सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई।'*** (२) ***'देखि कुभाँति कुमति मन माषा'*** (३) ***'आगे दीखि जरत रिस भारी'*** (४) ***'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु""।'*** [***'रोष तरंगिनि बाढ़ी'*** और ***'भई उठि ठाढ़ी'*** से नखशिखसे रोषमें भरी जनाया। ***'बाढ़ी'*** स्वच्छन्दगामिनी सूचित किया। (पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ यहाँ नदीका रूपक बाँधा गया, क्योंकि कैकेयी स्वयं ही बहकर विपत्ति-समुद्रमें गिरने चली और राजाको भी बहा ले गयी, यथा—***'ढाहत भूपरूप तरु मूला।'***

टिप्पणी—३ ***'पाप पहार प्रगट भइ सोई'*** इति। (क) पर्वतसे पहाड़ शब्दमें अधिक गुरुता है। पहाड़=भारी पर्वत। भारी जनानेके लिये ***'पहार'*** शब्द दिया। भारी नदी भारी पर्वत अर्थात् पहाड़से निकलती है, वैसे ही कैकेयी बड़े भारी पापसे पैदा हुई है। (यह मत पं० रामकुमारजीका है। बाबा रामदासजी कहते हैं कि यहाँ राजाका पूर्वकृत पाप ही पहाड़ है। यथा—***'सो सब मोर पाप परिनामू।'*** (३६। २) ***'तापस अंध साप सुधि आई।'*** (१५५। ४) ***'तापस अंध साप'*** वाले पापसे कैकेयी शापकी पूर्ति करनेके लिये पैदा हुई। बैजनाथजीका मत है कि कैकेयीका मानसी-पाप पहाड़ है जिससे रोष-नदी प्रकट हुई। लाला भगवानदीनजी भी कहते हैं कि कैकेयीका यह रोष पाप-वासनासे हुआ है कि कौसल्या मेरा बुरा चाहती हैं। हालका पाप उपचार करनेसे छूट जाता है, पर ये पाप जन्म-जन्मान्तरके हैं, इसीसे पहाड़रूप और अचल हैं।) (ख)—बालकाण्डमें क्रोधको पापका मूल कहा है, यथा—***'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।'*** (२७७) और यहाँ पापको क्रोधका मूल कहते हैं। रोष-तरंगिनिका पाप पहाड़से प्रकट होना कहा है अर्थात् क्रोधका पापसे उत्पन्न होना कहा। दो जगह दो परस्पर-विरोधी बातें देकर जनाया है कि दोनों एक-दूसरेसे होते हैं क्रोधसे पाप होता है और पापसे क्रोध होता है अर्थात् न्यायकी भाषामें ये दोनों अन्योन्याश्रय हैं।

टिप्पणी—४ *'भरी क्रोध जल जाइ न जोई'* इति। (क) रिसमें भरी हुई कैकेयीको रोष-नदीकी उपमा दी। अब कहते हैं कि क्रोध जल है। भाव यह कि नदी जलमय होती है, यहाँ क्रोधकी नदी क्रोध-जलसे भरी है। रोष और क्रोध एक ही हैं। तात्पर्य यह कि क्रोध उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें परिपूर्ण है। (ख) नदी बढ़ी है, इसीसे क्रोध-जलसे परिपूर्ण कहा। नदीकी बाढ़ देख डर लगता है और क्रोधीको देखकर डर लगता है; अतः *'जाइ न जोई'* कहा।

टिप्पणी—५ *'दोउ बर कूल कठिन हठ धारा'* इति। (क) नदीकी मर्यादा कूल (किनारा) है। नदी उनके आगे नहीं जाती। वैसे ही रोष-नदीकी मर्यादा वर है। वर मिल जायँ तो क्रोध न करेगी। (ख) *'कठिन हठ'* अर्थात् किसीके भी कहनेसे यह हठ छूटनेवाली नहीं, इसीसे उसे *'धारा'* कहा। धारा कूलयुक्त वैसे ही हठ दोनों वरयुक्त। तात्पर्य यह कि दोनों वरदान पानेके लिये ही हठ है। यह हठ कुबरीके वचनके प्रचारसे भयदायक हो गयी है (अर्थात् 'कुबरीके कहनेके कारण उसने यह भयङ्कर हठ ठानी है') जैसे धारा भँवरसे भयदायक हो जाती है। (ग) *'भँवर कूबरी बचन प्रचारा'* इति। *'कहइ करहु किन कोटि उपाया'* से *'होत प्रात मुनि बेष धरि जौ न राम बन जाहिं'* तक जो कुबरीकी सिखायी-पढ़ायी बातें कैकेयीने राजासे कहीं अर्थात् कुबरीके वचनका प्रचार किया यही भँवर है। [अथवा, कुबरीके वचनका जो प्रचार अर्थात् ललकार है कि *'काज सँवारेहु सजग होइ सहसा जनि पतियाहु'* और *'भूपति रामसपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥'* एवम् *'बचन मोर प्रिय मानहु जीते'*—यही भँवर है जो डुबा देता है।

टिप्पणी—६ *'ढाहति भूपरूप तरु मूला'* इति। धाराके वेगसे नदी तटके वृक्षोंको जड़सहित उखाड़ डालती है। यहाँ राजा ही रोषतरंगिनीके तटके वृक्ष हैं, उनकी जड़ श्रीरामजी हैं। रामजीको देशसे निकाल वन भेजना, जिससे राजाकी भी मृत्यु होगी, वृक्षको जड़-मूलसे ढहाना है।

टिप्पणी—७ *'चली बिपति बारिधि अनुकूला'* अर्थात् आप विपत्ति-समुद्रको प्राप्त होगी, विपत्तिमें जा गिरेगी—ऐसे धर्मात्मा और आज्ञाकारी पतिका नाश होगा, भरत ऐसा पुत्र छूटेगा, राज छूटेगा, कोई मुँह न देखेगा, मरने योग्य हो जायगी, यथा—*'अवनि जमहिं जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥'* (२५२। ६) और अन्य सब लोगोंको विपत्ति-समुद्रमें डालेगी। **अनुकूला**=सम्मुख। अर्थात् सीधी चली, (फेरफार, टेढ़े-मेढ़े नहीं कि कुछ दिन लगें), जिसमें तुरत विपत्ति-समुद्रमें जा मिले; क्योंकि प्रातःकाल ही सब कुछ हो जाना है।

लखी नरेस बात फुरि* साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाँची॥ ५॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥ ६॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥ ७॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिंत जरिहि जनम भरि छाती॥ ८॥

दो०—देखी ब्याधि असाधि† नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥ ३४॥

शब्दार्थ—'**मिस**' (सं० मिष)=बहानेसे। '**मीचु**'=मृत्यु, मौत। *'सीस पर नाँची'*—मृत्यु सिरपर नाच रही है, अर्थात् मृत्यु होनेहीवाली है, निकट है। *'जेहि तेहि भाँती'*—जैसे बने तैसे, जिस-तिस प्रकारसे। **ब्याधि**=रोग। **असाधि**=(असाध्य), जो अच्छा न हो सके। **आरत**=(आर्त्त) दुःखसे भरे हुए (वचन), दुःखसूचक, दीन, चोट खाये हुए।

* राजापुर और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें यही पाठ है। पं० रामगुलाम द्विवेदी, भागवतदासजी और ना० प्र० सभाने 'सब साँची' पाठ दिया है। † असाधि—रा० प्रे०। असाध-गी० प्रे०।

अर्थ—राजाने समझ लिया कि बात सचमुच (वा, साँचेहुँ साँचीवाली बात) ठीक है। सच ही स्त्रीके बहाने मेरी मृत्यु सिरपर नाच रही है॥ ५॥ राजाने उसके चरण पकड़कर उसे बिठाकर विनती की कि सूर्यवंश-(रूपी वृक्षके काटने-) के लिये कुल्हाड़ी मत बन॥ ६॥ तू मेरा मस्तक माँग ले, मैं अभी दे दूँ, पर राम-वियोगमें मुझे मत मार॥ ७॥ जैसे-तैसे रामको रख ले नहीं तो जन्मभर तेरी छाती जलेगी॥ ८॥ राजाने देखा कि रोग असाध्य है (तब वे) माथा पीटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और बड़े आर्त्त-स्वरसे *'राम राम रघुनाथ'* ये आर्त्त वचन कहे॥ ३४॥

नोट—१ *'लखी नरेस बात फुरि साँची'* इति। (क) अर्थात् रिस, परिहास झूठ है, यह बात रिस-परिहासवाली नहीं है। *'बात फुरि'* अर्थात् *'साँचेहु साँची'* वाली बात। *'साँची'*=सत्य है। जो राजाने कैकेयीसे पूछा था कि *'एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥'* सो *'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा'?* कैकेयीके अबकी बारके वचनोंसे अब उन्होंने स्वयं निश्चय जान लिया कि यह बात न तो रिसवाली है न परिहासवाली, वह तो *'साँचेहु साँची'* वाली है। अथवा साँचेहु साँची है, सत्य ही ठीक है; जैसे वहाँ *'साँचेहु साँची'* वैसे ही यहाँ *'फुरि साँची'* कहा।

नोट—२ *'फुरि साँची'* में पुनरुक्ति दोष समझकर कुछ लोगोंने *'सब साँची'* पाठ उत्तम माना है। पर 'सब' पाठमें *'फुरि साँची'* वाला चमत्कार नहीं रह जाता और विचारकर देखनेसे इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। किंतु पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार है।

पुनरुक्तिका दोष यों भी नहीं रहता कि *'फुरि'* को 'बात' के साथ ले लें और *'साँची'* को *'मीचु सीसपर नाची'* के साथ लेकर अर्थ कर लें तो भी अर्थ ठीक बैठता है। जैसा बाबा हरिहरप्रसादजीने किया है।—'यह बात फुर है अर्थात् रिस-परिहाससे नहीं कही गयी, अब सच ही मृत्यु सिरपर…।'

नोट—३ *'लखी नरेस…तिय मिस मीचु…'* इति। मिलान कीजिये—**'रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये। बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम्॥', 'विनाशकामामहिताममित्रामावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्। चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥'** (वा०रा० २। १२। ८९, १०५) अर्थात् मैं तुम्हारे साथ रमण किया करता था, पर तुम मेरी मृत्यु हो यह मैं नहीं जानता था। जैसे एकान्तमें बालक सर्पसे खेलकर अपनी मृत्यु बुलाता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारा साथ किया। तुम मेरा नाश चाहनेवाली हो, अहित चाहनेवाली हो, शत्रु हो, मैंने तुमको मृत्युके समान अपने घरमें रखा, भयङ्कर विषवाली सर्पिणीको अज्ञानसे मैंने अङ्कमें धारण किया; उसी कारण आज मैं मारा जाता हूँ।—ये सब भाव *'लखी'* और *'तिय मिस मीचु'* से ग्रहण किये जा सकते हैं।

टिप्पणी—१ *'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।'…* 'इति। पूर्व कहा था कि *'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी',* अतः पैर पकड़ विनय करके उसको बिठाया। क्या विनय की यह आगे कहते हैं—*'माँगु माथ'…* ' इत्यादि।

नोट—४ गणपति उपाध्यायजीने लिखा है कि राजाने स्त्रीके चरण नहीं पकड़े वरन् शारदा वा मृत्युके—*'तियपद भूपति नहिं गही गही शारदा पाँव। किंतु मीचु तिय सीसपर गहि पद बिनय सुनाव॥'* पर इस खींचकी जरूरत ही क्या? आर्त्त दीन दशामें हठीको समझाने और अपने अनुकूल बनानेके लिये हाथ जोड़ना, पैर पकड़ना इत्यादि साधारण बातें हैं। वाल्मीकिजीने भी प्रत्यक्ष यही कहा है—**'अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते। शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥'** (२। १२। ३६) अर्थात् कैकेयी! मैं तेरे हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैर छूता हूँ, रामचन्द्रकी रक्षा कर, जिसमें मुझे अधर्म न हो। पुनः, यथा—**'स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे।'** (२। १२। १११) अर्थात् मैं तुम्हारे चरण छूता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। वही अर्थ यहाँ है, इसमें आपत्ति ही क्या? दुष्टसे पाला पड़ता है तब क्या नहीं किया जाता है?

टिप्पणी—२ इस प्रसङ्गमें दिखाया गया है कि कैकेयीने राजाका रूप, राजाका मनोरथ, अयोध्या और कुलका नाश मारा। राजाके रूपका नाश किया, यथा—*'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि…'* (२९। ५) मनोरथ नष्ट किया, यथा—*'मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥'* (२९। ७) अयोध्याको

उजाड़ डाला, यथा—*'अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।'* (२९। ८) कुलका नाश किया, यथा—*'जनि दिनकर कुल होसि कुठारी'* इन सबका 'निर्धार' राजा अपने मुखसे आगे कहते हैं—*'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई॥', 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।'* पर मेरा शरीर न रहेगा, मेरा मनोरथ न पूर्ण हुआ और *'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥'*

टिप्पणी—३ पहले जब कैकेयीको भारी रिससे जलते देखा तब तलवारका रूपक बाँधा था। तब भी राजाने कैकेयीसे अपने जीनेके लिये विनय की थी, यथा—*'जिअइ मीन बरु बारि बिहीना'* इत्यादि। उस विनयको सुनकर वह जल उठी थी, यथा—*'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई।'* इसी कारण राजा अबकी बार अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये विनती नहीं करते, दिनकर-कुलके बचानेकी और अपनेको रामविरहसे बचानेकी विनती कर रहे हैं।

पण्डितजी—*'जनि दिनकर कुल होसि कुठारी'* अर्थात् रघुकुलरूपी वृक्षसे सबका उपकार है, यह सबको विश्राम देनेवाला है। जो कहो कि सत्यकी सराहना करके दानी बने अब ऐसा क्यों कहते हो; या यह कि मुझे कुठारी कहते हैं और आप सत्यवादी बनकर मिथ्या बोलते हैं, उसपर आगे कहते हैं कि *'माँगु माथ'''।'*

नोट—५ *'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही।'''* इति (क) भाव कि रामकी रक्षाके बदले या दूसरे वरके बदले मेरा सिर चाहे तो अभी काटकर दे दूँ। सिर देनेसे केवल मेरे प्राण जायँगे, रघुकुल तो बच जायगा और रामवनवाससे दिनकर-कुलका ही नाश हो जायगा। पुनः रामविरहमें मरना अत्यन्त असहनीय होगा, उसमें तड़प-तड़पकर मरण होगा और सिर काट देनेमें दुःख न होगा। (रा० प्र० पं०) मस्तक देनेसे यश होगा। (पं०) यह मृत्यु सुखद है और विरहवाली मृत्यु विषम है। (वै०) अतः *'माँगु माथ'''* और *'राखु राम कहँ'* कहा। (ख) कैकेयी यह न कहे कि तुम्हारे वचनका क्या ठिकाना? एक बार अभी देनेको कहा सो नहीं देते, आगेकी कौन प्रतीति माने? उसपर कहते हैं कि *'अबहीं देउँ तोही'* तुरत देता हूँ, तुम्हारे माँगनेभरकी देर है।

टिप्पणी—४ (क) राजा उसे इस दशामें देखकर समझ गये कि *'तिय'* के बहाने मेरी मत्यु सिरपर नाच रही है। इसीसे *'तिय'* से कहते हैं *'माँगु माथ'* अर्थात् तू ही तो मृत्युरूप है, ले मैं अपना माथा बलि देता हूँ, प्राण लेने आयी है तो ले, मैं प्रसन्न होकर दिये देता हूँ पर (यह कृपा कर कि) रामविरहमें हमको न मार। *'अबहीं देउँ तोही'* अर्थात् रामको वनवास देनेमें बड़ा क्लेश है, दिया नहीं जाता और सिर देनेमें क्लेश नहीं (इसलिये इसे तुरत दे दूँगा)। (ख)—*'जेहि तेहि भाँती'* अर्थात् आदरसे वा निरादरसे, जैसे बने तैसे।

नोट—६ *'जेहि तेहि भाँती'*=जैसे-तैसे, ज्यों-त्यों। रामजी धर्मात्मा हैं। वे वरका हाल सुनकर राज्य कदापि न ग्रहण करेंगे, अवश्य वनको चल देंगे और सत्य त्यागके भयसे मैं उनसे कह नहीं सकता कि न जाओ, घर रहो; इसीसे राजा कैकेयीसे कहते हैं कि *'राखु राम कहुँ.....'* अर्थात् तू उन्हें वन जानेसे रोककर घरमें रख, तेरे कहनेसे वे रह सकते हैं और किसी तरह नहीं। (पंजाबीजी) राखु=घरमें रख, रक्षाकर, वन न भेज। *'राखु जेहि तेहि भाँती'*— जैसा कैकेयीकी परम प्रिय विप्रवधुओं आदिने कहा है, यथा—*'गुर गृह बसहुँ राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥'* (५०। ४) *'नाहित जरिहि जनम भरि छाती'* अर्थात् मैं तो मर जाऊँगा, पर तेरी छाती जनमभर जलेगी; जैसा गीतावालीमें कहा है कि *'कैकयी जौलौं जियति रही। तौ लौं बात मातुसों मुँह भरि भरत न भूलि कही।'''*

टिप्पणी—५ *'देखी व्याधि असाधि नृपु। ....'* इति। ऊपर रोष तरंगिनिके रूपकमें जो कहा था कि *'ढाहति भूप रूप तरु मूला'* उसीको इस दोहेमें चरितार्थ करते हैं—*'परेउ धरनि धुनि माथ।'* राजाने देखा कि रोग असाध्य है। व्याधिकी चिकित्सा करना शास्त्राज्ञा है, जहाँतक बस चले ओषधि करनी चाहिये, न करनेसे मनुष्य दोषका भागी होता है। रोग असाध्य होनेपर क्या किया जाय, तब तो मनुष्य लाचार

ही है। यहाँ राजा पैरों पड़े, विनती की, सिर काटकर देनेको कहा, जहाँतक चिकित्सा हो सकती थी, बसभर वह सब कर देखा, कोई कारगर न हुई, कैकेयीने एक न मानी तब समझ गये कि रोग (कैकेयीका हठ) असाध्य* है, यह रामको अवश्य वन देगी। यह समझकर माथा पीटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और परम आर्त्त वचन *'राम राम रघुनाथ'* कहने लगे अर्थात् भावी विरह समझकर व्याकुल हुए। (३५। ७)

पंजाबीजी—असाध्य रोग वह है जो परम ओषधियोंसे भी निवृत्त न हो। राजाने विचारा कि महाभेषजके स्थान अपनी मृत्युका और इसके जन्मपर्यन्त छाती जलनेका भय मैंने इसको दिया तो भी इसने नहीं ही माना, इससे यह रोग असाध्य जान पड़ता है। सिर पीटा कि हाय मैं इस पापिनीके घर क्यों आया वर देनेके समय विचार क्यों न किया? (नोट—निराश होनेपर बहुत शोक और पश्चात्ताप होनेपर लोग सहज ही माथा पीटते, धरतीपर लोटते और भगवान्‌को उस संकटमें याद करते ही हैं।)

नोट—७ दोहेमें '**विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः। श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम्॥**' (वाल्मी० २। १३। २४)का भाव भी आ जाता है कि दुष्ट अभिप्राय रखनेवाली कैकेयीने छल-कपटरहित दीन तथा अत्यन्त विलाप करनेसे लाल, आँसूभरी हुई आँखोंवाले पतिका अद्भुत और दयनीय विलाप सुनकर भी उनके वचनोंका पालन न किया, प्रसन्न न हुई और कटु वचन बोलती ही रही, हठ न छोड़ी।

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहु निपाता॥ १॥
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीनु बिनु पानी॥ २॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महुँ माहुर देई॥ ३॥

शब्दार्थ—**सिथिल**=ढीले, बेकाबू, श्रान्त। **निपाता**=नाश किया, गिरा दिया। **पाठीनु**=पढ़िना, पहिना वा बरारी नामकी मछली। यह बिना सेहरेकी होती है, प्रायः अन्य सब मछलियोंसे अधिक दीर्घजीवी और डील-डौलवाली होती है। इसके सारे शरीरमें बारीक काँटे होते हैं; मछलीविशेष। **दीनु**=दुःखी, व्याकुल। **घाय**=घाव। **माहुर**=विष कटु=कडुए, अप्रिय, गुस्सैले, टेढ़े, जहरीले। कटु कठोर अर्थात् मर्म वचन, यथा—*'मरम बचन सुनि·····।'*

अर्थ—राजा व्याकुल हो गये। उनका शरीर शिथिल पड़ गया। मानो हथिनीने कल्पवृक्षको उखाड़ डाला॥ १॥ गला सूख गया, मुखसे वचन नहीं निकलता, मानो पानी बिना पढ़िना मछली तड़प रही हो॥ २॥ कैकेयी फिर कड़ुए और कठोर (अर्थात् मर्म) वचन बोली मानो घावमें विष (का फाया) दे रही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'ब्याकुल राउ···करिनि कलपतरु···'* इति। (क) *'मोर मनोरथ सुरतरु फूला'* (२८। ७) में राजाके मनोरथको कल्पवृक्ष कहा और यहाँ राजाको। तात्पर्य कि कैकेयीने राजाके मनोरथ और शरीर दोनोंका नाश किया। (ख) कैकेयीने राजाको कृपण बनाया था और अब भी बनायेगी, यथा—*'देन कहेहु अब जनि बरु देहू।'* (३०५) *'जानेहु लेइहि माँगि चबेना।'* (३०। ६) और *'दानि कहाउब अरु कृपनाई।'* (३५। ६) इसपर कवि उसकी बातको असत्य ठहराते हैं। वे सब वक्ताओंके मुखसे राजाको कल्पवृक्ष कहलाकर उसके सत्य और दानकी प्रशंसा करा रहे हैं कि राजा कृपण नहीं हैं वे तो कल्पतरु हैं, सबका मनोरथ पूरा करते हैं, कैकेयीका भी मनोरथ पूरा किया, 'नहीं' न किया। वे सत्यप्रतिज्ञ हैं, उन्होंने प्रतिज्ञाका पालन किया, रामचन्द्रजीसे रहनेको न कहा।

पण्डितजी—हथिनीका प्रयोजन पेट भरनेसे है। वह डाल-पत्तेसे पेट भरती है। पेड़ उखाड़नेसे उसका कुछ लाभ या प्रयोजन नहीं, किंतु आगे फिर उससे डाल-पत्ते, फल-फूल खानेको मिलते। पेड़ उखाड़कर उसने अपनी भी हानि की। आखिर पशु ही तो है। वैसे ही कैकेयी अपने पुत्रको राज देकर अपना

* रोग तीन प्रकारके माने गये हैं—साध्य (जो शीघ्र अच्छे हो जायँ), साध्यासाध्य वा कष्टसाध्य (जो अच्छे हो सकते हैं यदि ठीकसे उपाय लगाकर किया जाय) और असाध्य (जो अच्छे नहीं हो सकते)।

पेट भरती, इतनेसे ही उसे प्रयोजन था सो न करके उसने कल्पतरुरूप राजाको मारकर कुलकी कौन कहे जगत्‌भरके सुखोंपर पानी फेर दिया; और स्वयं भी सुखसे वञ्चित हुई। सत्ययुग-त्रेतामें कल्पवृक्ष पृथ्वीपर भी रहता है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—हथिनीने अपने सुखके लिये कल्पवृक्षको नष्ट किया जिससे बहुत लोगोंका भला होता। उसी तरह कैकेयीने अपने सुखके लिये राजाका नाश किया जिनसे बहुतोंका भला होता। जैसे कल्पतरु पेड़ नहीं है, यथा—'*पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा।*' (६। २६) वैसे ही राजा मनुष्य नहीं हैं। इनके वधसे भारी पाप लगता है।

टिप्पणी—२ '*कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु*·····' इति। (क) राजा पाठीन हैं, श्रीरामजी जल हैं, राजा ऐसे व्याकुल हो रहे हैं मानो उनके लिये श्रीरामजी अभी चले गये और उनकी दशा जल बिना पढ़िना मछलीकी-सी होने लगी। (ख) प्रथम राजाको व्याकुल कहा अब व्याकुलताकी दशा कहते हैं—मारे शोकके कण्ठ सूख गया, कण्ठ सूखनेसे वाणी नहीं निकली। (ग) (जैसे मछलीका प्रीतम जल है वैसे ही राजाके प्रीतम राम हैं, यथा—'*हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरु।*' (१४६) (घ) '*जनु पाठीनु*·····' से राजाकी मरणावस्था सूचित की बिना जलके मछली नहीं जीती। विरहकी नव दशाएँ कह आये। [(ङ) यहाँ कैकेयी मछली मारनेवाली है, वर जाल है। वररूपी जालमें फाँसकर राजारूपी मछलीको उसने रामरूपी जलसे अलग कर दिया। वै०]

देखिये, जब कैकेयीने वर माँगा तब राजा सहम गये और कुछ बोल न सके थे, यथा—'*गएउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।*' (२९। ४), मनमें झँखने लगे थे। तब कैकेयी '*माष*' उठी (अप्रसन्न वा रुष्ट हो गयी थी), यथा—'*देखि कुभाँति कुमति मन माषा*' और कटु वचन बोलने लगी, यथा—'*अति कटु बचन कहति कैकेयी।*' वैसे ही इस समय जब राजाका कण्ठ सूख गया और वे बोल न सके तब भी वह कटु वचन बोलने लगी जैसा आगे कहते हैं। तात्पर्य यह कि उनके चुप हो जानेसे कैकेयी समझती है कि राजा वर नहीं देना चाहते।

टिप्पणी—३ '*पुनि कह कटु कठोर कैकेयी।* ·····' इति। (क)—'*पुनि*' अर्थात् प्रथम एक बार कह चुकी है अब दुबारा कहती है। पहले '*अति कटु बचन*' कहे थे वैसे ही '*कटु कठोर*' अब भी कहे।—(मिलान देखिये)। (ख) पहले जलेपर लोन लगाना कहा था, अब घावमें माहुर देना कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे प्रथम अग्निसे जलना कहकर ('*दामिनि हनेउ मनहुँ* ·····।' (२९। ५) दामिनी अग्नि है), उस जलेपर लोन लगाना दिखाया था, यथा—'*तजहु सत्य जग अपजस लेहू*'; वैसे ही घाव करके उसमें विष भरना कहते हैं। घाव क्या है? उत्तर—ऊपर तलवारका रूपक दे आये, यथा—'*आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥*' (३१। १) वह तलवार राजाके लगी अर्थात् उसने रामवनवास माँगकर घाव कर दिया। एक तो व नवास माँगा और अब उनके शोकमें मग्न होकर चुप रहनेपर उनको कृपण बनाती है, यथा—'*दानि कहाउब अरु कृपनाई।*' (३५। ६) यह उस घावपर विष लगाना है। कैकेयीके वचन इतने कटु हैं कि माहुरके समान हैं, इसीसे '*माहुर*' की उपमा दी।

मानस-मयङ्क—'*बिबरन भयउ निपट नरपालू।* ···।' (२९। ५), '*अति कटु बचन कहति कैकेयी*···।' (३०। ८) और '*पुनि कह कटु कठोर कैकेयी।*·····' इन तीनोंका भाव यह है कि जैसे दामिनी तालवृक्षको जला देती है, लवण लगनेसे अङ्ग गल जाता है और माहुर लगनेसे घावमें दाह होता है, वैसे ही राजा कैकेयीके वचनसे मरे हुएके समान हो गये; जैसे एक कसाईनने पुत्रके स्नेहवश पतिको मार डाला वैसे ही भरत-प्रेमवश कैकेयीने राजाको मार डाला।

पण्डितजी—वचन कानोंको कटु और हृदयको शूल देनेवाले हैं। माहुर दिया जिसमें घाव सड़ जाय, मृत्यु शीघ्र हो जाय। घावमें विष पड़ जानेसे बड़ा भीषण असह्य कष्ट होता है। यहाँ 'उक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है।

वचन कठोर भी हैं अर्थात् निर्दय हृदयसे निकले हैं जिसमें दूसरेके संकट-शोकका किञ्चित् भी खयाल नहीं, वज्र-जैसे हृदयसे कहे गये हैं। पंजाबीजी '*कठोर*' को कैकेयीका विशेषण मानते हैं।

दो बारके कटु वचनोंका मिलान

अति कटु बचन कहति कैकेयी	१	पुनि कह कटु कठोर कैकेयी
जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे	२	जौं अंतहु अस करतब रहेऊ
काहे न बोलेहु बचन सँभारे	३	माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ
देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥ सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥	४	छाँड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥
	५	दानि कहाउब अरु कृपनाई
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तन धन तजेउ बचन पन राखा॥	६	तन तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥
दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू	७	मनहु रोष तरवारि उघारी
(वचन-वज्रसे जलाकर जलेपर नमक छिड़का)		(तलवारसे घाव करके विष भरा)
मानहु लोन जले पर देई	८	मनहुँ घाय महुँ माहुर देई

रामायणी रामसुन्दरदासजी (छावनी मणिरामदासजी)—इस प्रसंगमें दोहा २९। ४—६ में कविने राजाकी तीन प्रकारकी दशाएँ (वनवासका वर सुननेपर) दिखायी हैं—'*ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू*', '*जनु सचान बन झपटेउ लावा*' और '*दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।*' यहाँ कैकेयीके वचनोंकी उपमा चन्द्रमा, बाज और बिजलीसे दी गयी। चन्द्रमा, बिजली और बाज (पक्षी) तीनों ऊपर हैं, आकाशमें हैं। किरणें आकाशसे नीचे आती हैं, बिजली आकाशसे (मेघोंसे) निकलकर आती है, बाज भी ऊपरसे झपटकर लवापर टूटता है। तीनों आकाशवालोंके दृष्टान्त दिये गये। क्यों? इसमें बड़ा चमत्कार है। वह यह कि 'वचन' (शब्द) आकाशका विषय है और राजाकी यह सब दशा कैकेयीके वचनोंसे हुई है, यथा—'*सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि कर छुअत ""।*' अतएव आकाशवालोंकी ही उपमाएँ दी गयी हैं।

जौं अंतहु अस करतबु रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ॥ ४॥
दुइ कि होइ* एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥ ५॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥ ६॥
छाँड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥ ७॥
तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥ ८॥

शब्दार्थ—**अंतहु**=अन्तमें। **करतबु** (कर्तव्य)=करनी, करतूत। **बल**=भरोसा। **ठठाइ**=ठट्ठा मारकर। **ठठाना**=अट्टहास करना, खिलखिलाना, जोरसे हँसना, कहकहा लगाना। **कृपनाई**=कृपणता, कंजूसी, सूमता। **खेम कुसल**=क्षेमकुशल, खैरोआफियत। **रउताई**=रावतपना, वीरता, लड़ाई—(सं० राजपुत्र, प्रा० रावत=राय+उत=छोटा राजा, शूर, वीर, बहादुर, बड़ा योद्धा, सामन्त, सरदार)।

अर्थ—जो अन्तमें यही कर्तव्य करना था तो तुमने किस बलपर 'माँगो, माँगो' कहा था॥ ४॥ हे राजन्! क्या दो (विरुद्ध) बातें एक ही समय हो सकती हैं—ठट्ठा मारकर हँसना और गाल फुलाना?॥ ५॥ दानी कहाना और कंजूसी करना, क्षेमकुशल और रावतपना! क्या एक साथ हो सकते हैं?॥ ६॥ या तो

* 'होहिं'—(भागवतदासजी)। होइ—(राजापुर)।

वचन ही छोड़िये या धैर्य धारण कीजिये इस तरह स्त्रियोंकी तरह विलाप न कीजिये॥ ७॥ सत्यवादीके लिये शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथ्वी तिनकेके समान कहे गये हैं॥ ८॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'जौं अंतहु अस करतबु'''तृन सम बरनी'* इति। **'माँगु माँगु'** कहनेवालेके कलेजेमें दम चाहिये। सत्यसन्ध दानवीर ही ऐसे उदार शब्दके उच्चारणका अधिकारी है। **'माँगु माँगु'** कहनेका अर्थ ही यही है कि माँगनेमें सङ्कोच न करो। आपने देय वस्तुकी सीमा भी बतला दी कि ***'कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपति निकारौं देसू॥'*** अतः मैंने वर भी उसी सीमाके भीतर ही माँगा, किसी रंकको नरेश करना न माँगकर, अपने बेटेको ही नरेश करना माँगा, किसी बलवान् राजाका देश-निकारा नहीं माँगा, जो कि आपकी आज्ञाका अनादर करके युद्धके लिये तैयार हो जाता । मैंने तो केवल चौदह वर्षका वनवास ऐसेके लिये माँगा, जो तुरंत आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर ले। यदि ऐसे सुकर कार्यके लिये आपमें आत्मबल नहीं है, जमीनपर लोट रहे हैं, सिर पीटते हैं, आर्तनाद करते हैं, **'माँगु-माँगु'** आपने क्यों कहा? कहाँ यह भाव कि ***'प्रान जाइ बरु बचन न जाई'*** और कहाँ अब यह भाव कि ***'बचन जाउ बरु प्रान न जाई।'*** इन दोनों परस्पर विरुद्ध भावोंका एक साथ निर्वाह चाहना तो वैसा ही है जैसे कि कोई ठहाका मारकर हँसने और गाल फुलानेका निर्वाह एक साथ चाहे। मनमें कृपणता रखना और दानी होनेका दम्भ रचना कितने क्षण टिक सकता है? आप राजापन भी दिखाते हैं और कुशलक्षेम भी चाहते हैं? राजाके मुखसे जो बात निकल गयी वह हाथीके दाँतकी भाँति फिर नहीं पलटती। राजा यदि बात कहकर पलट जाय तो सत्यको स्थान कहाँ है? फिर सत्यसन्ध होनेके लिये बड़ा कलेजा होना चाहिये। सत्यसन्ध अपनी प्रतिज्ञाके आगे स्त्री, पुत्र, शरीर, धाम, धन धरणीको तृण समझते हैं, इनके त्यागमें उन्हें तनिक भी दुःख नहीं होता, वे जमीनपर लोटकर आर्त्तनाद नहीं करते। यदि संसारके सामने सत्यसन्ध बना रहना है तो धैर्य धारण करो। स्त्रियोंकी भाँति करुणा करनेवाले सत्यसन्ध नहीं कहलाते।

टिप्पणी—१ ***'जौं अंतहु अस करतबु रहेऊ। ....'*** इति। ***'अंतहु'***=अन्तमें, अथवा अन्तःकरणमें। ***'अंतहु'*** का भाव कि प्रथम (आदिमें) भी नहीं देते थे, यथा—***'माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु'*** और ***'अंतहु'*** (अर्थात् माँगनेपर भी) नहीं देना था तो ***'माँगु-माँगु'*** क्यों कहा?

नोट—१ ***'दुइ कि होइ एक संग भुआला'*** इति। ठट्ठा मारकर हँसनेमें मुँह खुला रहता है, गाल पिचक जाते हैं और गाल फुलानेमें होंठ मिले रहते हैं, मुँह बन्द हो जाता है। गाल पचके भी रहें और फूले भी, होंठ मिले भी रहें और अलग भी, मुँह बन्द रहे और खूब फैला भी ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। एक समयमें एक ही हो सकता है। दानी बने और देना न चाहे, सरदार और वीर बने और कुशल चाहे, दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इनमेंसे एकका ही ग्रहण एक समय हो सकता है, दूसरेका त्याग अवश्य करना पड़ेगा। तुम मुझे और कौसल्या दोनोंको प्रसन्न रखना चाहते हो, यह नहीं हो सकता, या तो उन्हींको प्रसन्न कर लो या मुझको ही। एकको जरूर अप्रसन्नता उठानी पड़ेगी—यह पहले दृष्टान्तसे जनाया। सत्यकी सराहना करके, रघुकुलकी प्रसंशा करके, दानी बनकर वर माँगनेको कहा और जब हमने माँगा तब कहते हो कि राम तो हमें प्राणसे भी अधिक प्रिय हैं, यह वर न माँगो, दूसरे शब्दोंमें कि यह वर न दूँगा। यह कृपणता है, कहते हो कि इसके बदलेमें अन्य कोई वर माँग लो, तब दानी कैसे कहे जा सकते हो? दानी बनते हो तो सत्यपर स्थिर रहना होगा, देना अवश्य पड़ेगा। रामका लोभ नहीं कर सकते, वे पास ही रहें, घरसे न जायँ, यह नहीं हो सकता।—यह दूसरे दृष्टान्तका भाव हुआ। तीसरे दृष्टान्त ***'खेम कुसल रउताई'*** का भाव यह है कि दानवीर बनते हो और प्राणोंका लोभ करते हो कि रामवियोगमें प्राण न रहेंगे। अतएव यदि आप सत्यपर कायम रहना चाहें तो धीरज धरिये, शोक न कीजिये, रोइये नहीं।

टिप्पणी—२ हँसब अर्थात् प्रसन्नता, ***'गाल फुलाउब'*** अर्थात् अप्रसन्नता। कैकेयीने वर माँगनेके पूर्व

राजाको 'प्रिय, प्राणपति, नाथ' सम्बोधन किये थे, यथा—*'माँगु माँगु पै कहहु पिय'*, *'सुनहु प्रानपति भावत जीका'*, *'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।'* जब राजा शोकके मारे न बोले तब क्रोधसे बोली और राजाको 'तुम, राउर, नृप, भुआल' सम्बोधन दिये, यथा—*'माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ'* *'मोर मरन राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं'* *'दुइ कि होइ इक संग भुआला।'* तात्पर्य कि जबसे कैकेयी बिगड़ी तबसे मधुर सम्बोधन उसने नहीं प्रयुक्त किये।

☞ स्वार्थ-साधकोंका यही ढंग है। क्रोधमें मनुष्य अन्धा हो जाता है। कुम्भकर्णने विभीषणसे कहा ही है—*'जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर।'* (६। ६३)

टिप्पणी—३ *'दानि कहाउब''''रउताई'* इति। *'रउताई'*=राजा होकर। अर्थात् तुम राजा हो, राजाओंपर अनेक आपदाएँ आती हैं, वे धीरज धरते हैं; तुम भी धैर्य धारण करो।

टिप्पणी—४ राजा पहले ठठाकर हँसे थे, यथा—*'जानेउँ मरम राउ हँसि कहई'*, पीछे चुप रहे, यथा—*'कंठ सूख मुख आव न बानी।'* तीनों बातें राजाके ऊपर कही हैं।

टिप्पणी—५ *'छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू।'''* इति। इससे सूचित होता है कि श्रीरामजीका वियोग सिरपर समझकर राजाने रोकर रामजीके नाम लिये थे—*'कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ।'* इसीसे वहाँ *'परम आरत'* कहा। वचन छोड़ो अर्थात् रामको रख लो। 'धीरज धरो' अर्थात् वचन रखो, रामको त्यागो। पुनः *'अबला'* शब्द बड़ा उत्तम है, इसीसे उनकी क्रिया सूचित हो जाती है। बलहीन रोवेगा नहीं तो क्या करेगा? (स्त्रियाँ सहज ही रो देती हैं)।

टिप्पणी—६ *'तन तिय तनय धाम धन धरनी। ''''* इति।—राजा सत्यसंध हैं, उन्होंने अपना तन तृणकी नाईं छोड़ दिया, यथा—*'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।'* जब तन तृणसरीखा त्याग दिया तब तनके सम्बन्धियोंका त्याग तृणकी नाईं आप ही हो गया। पहले 'तन' कहा क्योंकि इसीके आश्रित और सब हैं। कैकेयी बोली कि वचन छोड़ो नहीं तो धीरज धरो, फिर उसने विचार किया कि वचन छोड़नेसे हमारा नुकसान है, इसीसे वचन रखनेको पुष्ट करती है, यथा—*'तन तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥'* और *'सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं'*, अर्थात् सत्यसंधका कर्त्तव्य आपको भी उचित है।

दीनजी—राजाने जो प्रथम कहा था कि *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* (२८। ४) उसीकी ओर कैकेयीका लक्ष्य है। व्यंगसे जनाती है कि आपके ही ये वचन थे, उन्हीं वचनोंको आप त्यागना चाहते हैं।

वीरकविजी—प्रत्यक्षमें सत्यवादी पुरुषकी दानवीरता आदि बखानकर वह अपना हार्दिक अभिप्राय सिद्ध करनेका ढंग रच रही है, यह व्याजोक्ति है।

दो०—मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर॥ ३५॥

अर्थ—कैकेयीके मर्मभेदी वचन सुनकर राजाने कहा—(जो चाहे) कह, तेरा कुछ दोष नहीं है। मेरा काल तुझे पिशाच-जैसा लगा है, वही यह कहलाता है॥ ३५॥

टिप्पणी—१ कैकेयीके बोलनेके पूर्व कविने कहा को *'पुनि कह कटु कठोर कैकेयी'* और जब वह कह चुकी तब कवि कहते है कि *'मरम बचन सुनि''''।'* इससे 'मर्म बचन' का अर्थ 'कटु कठोर वचन' सूचित किया। मर्म=घाव कर देनेवाले प्रथम जब श्रीरामजीके लिये वनवास माँगा तब घाव हो गया था। फिर कृपण कहा अर्थात् उस घावमें माहुर दिया; तात्पर्य यह कि घावमें घाव करती जाती है। अब राजाकी मृत्यु होगी, यही बात राजा कहते हैं कि *'लागेहु तोहि''''।'*

नोट—१ कैकेयीको यहाँ पिशाचके वश कहना उचित ही है। जिसे प्रेत-पिशाच लगता है वह उलटी-

पुलटी बकता है, उसके वचनोंमें सँभाल वा विचार नहीं रहता—यथा—*'बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥'* (१। ११५। ७) वैसे ही कैकेयीकी लज्जा और शीलका सत्यानाश हो गया है। वाल्मीकीयसे मिलान कीजिये—'**भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लजसे। शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा॥ बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत्।**' (२। १२। ५७-५८) अर्थात् भूत लगेके समान तुम मेरे सामने ऐसे बोल रही हो, लज्जित नहीं होती हो, तुम्हारे शीलका इतना नाश हुआ—यह बात मैं पहले नहीं जानता था। बाल्यावस्थामें तुम बड़ी शीलवती थीं पर इस समय वह सब उलटा देख रहा हूँ।

नोट—२ वीरकविजी—यहाँ कैकेयीका सच्चा धर्म (कटुजल्पना) इसलिये निषेध किया कि वह धर्म अपने कालरूपी पिशाचमें आरोपित करना अभीष्ट है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलङ्कार' है।

चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें॥ १॥
सो सबु मोर पाप परिनामू। भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू॥ २॥

शब्दार्थ—**भूपतहि**=भूपता, भूप-पदवी, राज्यपदको। **परिनामू**=फल। **कुठाहर**=बुरी जगह, बेमौका।

अर्थ—भरत तो राज्यपदको भूलकर भी नहीं चाहते, विधिवश तेरे ही हृदयमें कुमति बसी है?॥ १॥ यह सब मेरे पापका फल है जिससे विधाता बेमौके उलटे हो गये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'चहत न भरत भूपतहि'* इति। अर्थात् भरत राज्य न करेंगे। श्रीरामजी ही राज्य करेंगे, तीनों भाई उनकी सेवा करेंगे, यह बात आगे स्पष्ट है। (ख) देखिये, जब कैकेयीने वर माँगा कि भरतको राज्य और रामको वन दो तब राजा बोले थे कि—*'भरतहि अवसि देउँ जुबराजू'*, इसका कारण यह था कि वह श्रीरामजीको वन जानेको न कहे। पर जब कैकेयीने न माना और यह निश्चय हो गया कि रामको वन अवश्य देगी तब राजाने ठीक-ठीक कह दिया कि भरतजी भूलकर भी राज्यकी इच्छा नहीं करते।

टिप्पणी—२ *'सो सबु मोर पाप परिनामू।…'* इति। मेरे पापके फलसे विधाता बाम हो गये, कुछ बस (अर्थात् कोई भी उपाय) नहीं चलता। यहाँ पापके तीन फल कहे। (१) *'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'* (२) *'बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें।'* (३) *'भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू।'* प्रथम जो कहा कि *'लागेउ तोहि पिसाच'* उसीका कारण कहते हैं कि *'बिधि बस कुमति बसी जिअ तोरें'* अर्थात् तू दुर्बुद्धिके कारण ऐसा कहती है और 'दुर्बुद्धि' का कारण है 'विधिवश'। विधिवश कैसे कुमति हुई उसका कारण कहते हैं कि मुझे विधाता बाम हो गये। इसीसे तेरे उरमें कुमति बस गयी। विधाताके बाम होनेका कारण अपना पाप बताते हैं—*'सो सब मोर पाप परिनामू।'* पापसे विधि बाम होते हैं, यथा—*'कठिन करमगति जानि बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'* (*'मोर पाप'*—(३४। २) *'पाप पहार प्रगट……'* में देखिये।)

२ पंजाबीजी—कुठाहर क्या है? कुठाहर यह कि तेरे घर आया। आज यहाँ न आता तो सब बात बनी-बनायी थी। विधिकी बामता यह कि यहाँ भरत नहीं हैं और न रामराज्याभिषेकके मुहूर्तका दिन ही कुछ दूर हुआ कि वे बुलाये जा सकते जिससे बात बन जाती। इस समय सब कुठाट ही है। *'कुठाहर'*—भरतका न होना अथवा धर्मसंकट पड़ा जिससे कुछ करते-धरते नहीं बनता।—(रा० प्र०)

नोट—*'कुठाहर'* का अर्थ यहाँ बेमौका है अर्थात् सब तैयारी हो चुकी थी, सबेरे तिलकभर करना बाकी था। ऐसे समयमें ही विधाताको बाम न होना चाहिये था। उसके लिये यह मौका उचित न था। उसने हर्षके समय विस्मय कर दिया।

वि० त्रि०—*'सो सब मोर पाप परिनामू……बामू'* इति। पहिले कह आये हैं *'कछुक दोष नहिं तोर'* उसीको स्पष्ट करते हैं कि मूल कारण इस विपत्तिका मेरा पाप है। उसी पापके कारण दुःख उपस्थित हुआ है; यथा—*'काहु न कोउ दुख सुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'* कर्मफल देनेवाले ब्रह्मदेव बेमौके बायें हो गये। ब्रह्मदेवके बायें होनेसे मृत्यु होती है, सो यदि रणाङ्गणमें वीरगति हो तो

वह ब्रह्मदेवका सुठाहरमें बायें होना कहा जायगा। प्रियतमके विरहमें प्राणत्याग और संसारमें स्त्रैण होनेकी अपकीर्तिका होना ब्रह्मदेवका कुठाहरमें बायें होना है।

सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई॥ ३॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥ ४॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**सुबस**=स्वतन्त्र, स्वतन्त्ररूपसे, सुखसहित, शोभायुक्त।

अर्थ—अयोध्यापुरी फिर भी स्वतन्त्ररूपसे सुहावनी होकर बसेगी, समस्त गुणोंके धाम रामचन्द्रजीकी प्रभुता होगी अर्थात् वे प्रभु (स्वामी, राजा) होंगे॥ ३॥ सभी भाई उनकी सेवा करेंगे। तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ाई होगी॥ ४॥ (परंतु) तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरनेपर भी न मिटेगा और कभी भी न जायगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'सुबस बसिहि'''*** इति (क) राजा अयोध्याको अभीसे उजड़ी समझ रहे हैं, यथा—***'अवध उजारि कीन्हि कैकेई।'*** (२९। ८) इसीसे कहते हैं कि ***'सुबस बसिहि फिरि'''।'*** अवध ही नहीं किंतु देवता, मनुष्य आदि तीनों लोकोंके लोग सुखपूर्वक बसे, यथा—***'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर-नाग नर-सुमुखिसना हैं॥'*** (गी० ७। १३) (ख) ***'सुहाई'*** का भाव कि श्रीरामजीके वनगमनसे अयोध्या भयानक हो जावेगी, यथा—***'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥'*** (८३। ५) यह फिर सुहावनी हो जावेगी, यथा—***'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥'*** (७। ३९) (ग)—***'सब गुन धाम''''''''*** —भाव कि जिस राजामें गुण नहीं होते वह राज्य नहीं कर सकता, उसकी बड़ाई नहीं होती। श्रीरामजी समस्त सद्गुणोंके धाम हैं अत: उनका राज्य होगा और त्रिलोकीमें उनकी बड़ाई होगी, यथा—***'राम राज बैठे त्रैलोका। हर्षित भये'''*** अर्थात् वे ऐसे समर्थ राजा होंगे कि तीनों लोकोंको उनसे सुख मिलेगा। ('गुणधाम'—१ (८) ३ (१) देखिये।)

टिप्पणी—२ ***'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई'*** इति। भाव कि रघुकुलकी जो सुन्दर रीति है कि ***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥'*** वही सब बरती जायँगी, यथा—***'सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥'***

टिप्पणी—३ ***'तोर कलंकु मोर पछिताऊ।'''*** (क) मेरा पछतावा यह कि मैं श्रीरामजीको राज न दे पाया, यथा—***'पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥'*** (२। ४। ५) राजाका तन न रहा पर रामको राज्य न दे सकनेका पछतावा बना रह गया। (ख)—***'मुयेहु'*** अर्थात् जीनेमें तो रहेगा ही और मरनेके बाद भी बना रहेगा। ***'न जाइहि काऊ'*** अर्थात् कल्पान्त भी होनेपर न जायगा; बराबर बना रहेगा। जैसे भुशुण्डीजीको गुरुके अपमानका शूल २७ कल्प बीत जानेपर भी न गया, हजारों देह धारण करनेपर भी वे उसे न भूले, यथा—***'एक सूल मोहिं बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥'*** (ग)—[पण्डितजी—मेरा पछतावा मरनेपर भी न मिटेगा। जैसे राजा परीक्षित् वैकुण्ठको गये तब भी पछताते ही रहे कि हमने कलियुगको मार न डाला, दया करके छोड़ क्यों दिया? यथा—***'अकनि याके कपट करतब अमित अनय अपाय। सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहि पछिताय॥'*** (वि० २२०) और तेरा कलंक कभी भी न मिटेगा।]

नोट—वाल्मीकीयमें जब रावणवधके पश्चात् श्रीदशरथजी स्वर्गसे इन्द्रादि देवताओंके साथ लंकामें आये तब उन्होंने श्रीरामजीसे स्वयं कहा है कि '**कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥**' (६। ११९। १४) '**त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम्। अद्य दुःखाद्विमुक्तोऽस्मि नीहारादिव भास्करः॥**' (१५) अर्थात् तुम्हारे वनवासके सम्बन्धमें कैकेयीने जो वाक्य कहे थे वे मेरे हृदयमें

अबतक स्थित थे, गड़े हुए थे; पर आज लक्ष्मणसहित तुमको सुखपूर्वक देखकर और आलिङ्गन करके मैं दु:खसे मुक्त हो गया जैसे कुहरेसे सूर्य।-यह *'मुयेहु न मिटिहि'* का प्रमाण है। स्वर्गमें भी उनका पछतावा रहा।

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट बैठु मुँहु गोई॥ ६॥
जब लगि जिअउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥ ७॥
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू* लागी॥ ८॥

शब्दार्थ—**'नहारू'**=हिंदी (शब्द सागरमें नहारू) शब्द नहीं मिला नाहर और नाहरू मिलते है। **'नाहर'**=सिंह बाघ, नारू या नहरुआ नामका रोग। 'नहारू' के लोगोंने अनेक अर्थ किये हैं, वे सब यहाँ दिये जाते हैं जिसमें साहित्यिक विज्ञ लोग इनपर स्वयं विचारकर ठीक अर्थ निश्चय करें। 'नहरुआ रोग' और 'सिंह या बाघ' ये दो अर्थ अधिकतर लोगोंने लिखे हैं। (१)—वीरकविजीने अर्थ किया है कि **'तुझे गायके मारनेमें पीड़ा नहीं लगती'** अर्थात् **'हारू'**=पीड़ा। † (२) बाबा हरिदासजी अर्थ करते हैं कि 'हारके लिये गायको न मार।' जैसे गाय हीराका हार लीले तो उसका पेट न फाड़ना चाहिये, यत्नसे ले लेना उचित है। वैसे ही मैं तेरी गाय-रूप हूँ और अवधका राज्य हाररूप है सो मैं तो रामहेतु पहले ही न्यास कर चुका अब रामजी न सही भरतहीको वह हाररूप राज पहिना दूँगा। जो रामजी वनको चले जायँगे तो भरतजी राज्य न ग्रहण करेंगे तब तू अन्तमें पछतावेगी। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी 'ताँत' अर्थ करते हैं। टीकाकारोंने और भी अर्थ ये लिखे हैं—(क) बरवट रोग झाड़नेके लिये नहारू ताँतका बनाया जाता है। (ख) **नहारू लागी**=बाघके धोखेसे। (ग) काश्मीरमें बाजको कहते हैं, बाज गोमांस नहीं खाता। (घ) बाघिनका बच्चा जिसकी आँख न खुली हो। भाव कि उस बच्चेके लिये यदि गाय मारें तो व्यर्थ ही है। (ङ) जूता या चमड़ेका टुकड़ा इत्यादि। विशेष टिप्पणियोंमें देखिये। ***'ओट'***—आड़में, ओझल होकर।

अर्थ—अब तुझे जो अच्छा लगे सो कर। आँखोंकी ओटमें मुँह छिपाकर जा बैठ अर्थात् यहाँसे दूर हट जा, मुँह न दिखा॥ ६॥ मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जबतक मैं जीवित रहूँ तबतक फिर कुछ मत कहना॥ ७॥ अरी अभागिनी! फिर तू अन्तमें पछतायेगी कि 'नहारू' के लिये तूने गायको मारा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'अब तोहि नीक……'*** इति। जो अच्छा लगे वही कर अर्थात् भरतको राज्य दे, रामको वन भेज (इस प्रकार राजाने उसको वर दे दिया। उसको आज्ञा दे दी कि जो चाहे कर)। ***'लोचन ओट……'*** अर्थात् जिस मुँहसे तूने 'रामको वन' माँगा वह मुँह मैं न देखूँ, तात्पर्य कि राम-विमुखका मुँह न देखना चाहिये। (ख) राजा साम, दाम, भेद, दण्ड चारों राजनीतियाँ कैकेयीको समझानेके लिये काममें लाये। यथा—***'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी'*** (यह साम है), ***'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही'*** (दाम है), ***'चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥'*** (भेद है), और, ***'लोचन ओट बैठु मुँहु गोई'*** यह दण्ड है—त्याग और वध दोनों बराबर हैं (वन्दन पाठकजी) यथा—**'त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्।'** (वाल्मी० ७। १०६। १३) [पुनः, ***'मुँहु गोई'*** का भाव कि जिसमें कोई भी तेरा मुख देखकर दोषी न हो। (रा० प्र०)। वा, अब तू किसीको मुँह दिखानेके योग्य नहीं रह गयी, अब तू सबको क्या मुख दिखायेगी। (वै०)]

---

* राजापुर और काशिराजकी प्रतियों एवम् पं० रामगुलाम द्विवेदी, भागवतदासजी, वन्दन पाठकजी और पं० रामकुमारजीकी प्रतियोमें भी यही पाठ है। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'नहारुहि' और बाबा हरिदासकी प्रतिमें 'नहारहि' ऐसा पाठ है। छक्कनलालजीकी प्रतिमें 'नहारू' पाठ है। मानस-मयङ्कमें नाहरू और नहारू दोनों पाठोंका भावार्थ दिया गया है।

† राजापुरकी पोथीमें शब्द-विन्यास नहीं है, इससे 'न' अक्षर मिलाकर उच्चारण करनेसे 'नहारू' एक शब्द हो सकता है। (वीरकवि)।

टिप्पणी—२ [(क) *'जब लगि जिअउँ'*—भाव कि मैं अब अधिक न जिऊँगा, कुछ घड़ी या दिन ही जीता रहूँगा, रामके वन जानेपर मेरे प्राण नहीं रहनेके। अतः तू मेरी आँखोंसे ओझल होकर मुँह छिपाकर अलग जा बैठ। यदि तू हठ करके यहाँसे नहीं जायगी तो फिर कटुवचन कहेगी ही, अतः हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि यदि यहाँसे न हटे तो चुप रहे, जितनी घड़ियोंतक मैं जीवित रहूँ उतने समयतक फिर कुछ न कहना। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि *'जब लगि जिअउँ'* कहनेमें भाव यह है कि अल्पकालमें मरण सुनकर कदाचित् वह अपना हठ छोड़ दे। बैजनाथजीका मत है कि कैकेयीको राजाने त्याग दिया, इसीसे आज्ञा देनेका अधिकार अब नहीं रह गया, अतः आज्ञा नहीं दी, हाथ जोड़ा।] (ख) *'कहउँ कर जोरी।'''''* इति। कैकेयी बार-बार कटु वचन बोलती है, यथा—*'पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ''''।'* इसीसे प्रार्थना करते हैं। वे अब उसकी बोली भी नहीं सुनना चाहते, न मुँह देखना चाहें। (४)—*'फिरि पछितैहसि'''''*, यथा—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'* *'अभागी'* क्योंकि पति-पुत्र और राज्य तीनोंका सुख इसने नष्ट किया।

'मारसि गाइ नहारू लागी'—

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'नहारू'* तृणको कहते हैं। अर्थात् तू तृणके लिये गाय मारती है। राज्य तृण है। कैकेयीने राज्यको तृणके समान कहा था, यथा—*'तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥'* (३५। ८) श्रीरामजीको त्याग करना गाय मारना है, यथा—*'पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारिसि गुरु ब्राह्मन गाई॥'*

२—बाबा रामदासजीने टिप्पणीमें लिखा है कि 'नहारू' किसी देशमें बन्धनको कहते हैं*। *'नहारू लागी'* अर्थात् बन्धन लगी हुई, बँधी हुई। भाव यह कि छुटी हो तो चाहे भाग भी जा सके, बँधी हुई भाग भी नहीं सकती कि जान बचा ले। यहाँ राजा गाय हैं जो प्रतिज्ञामें बँध गये हैं। (पं० रा० कु०)

३—काष्ठजिह्वा स्वामी—जैसे कोई बाघकी तृप्तिके लिये गोवध करे वैसे ही तू सौतके हेतु, सपत्नीसे अपना वैर निकालनेके लिए यह अनर्थ करती है। नाहर=बाघ। नहारू=बाघका बच्चा। यह बुन्देलखण्ड आदिकी भाषा है। (रा० प० प०)

४—दीनजी—अर्थ यह है कि 'तू शेरके बच्चेके पुष्ट करनेके लिये गौ मार रही है। नहारू और नाहरू एक ही बात है। अन्य लोग इसके विचित्र अर्थ करते हैं, पर वे ध्यान नहीं देते हैं कि अन्यान्य अर्थोंमें दोष यह है कि भरतजीकी तुच्छता झलकती है, जो महान् अनर्थ है। राजा कहते हैं कि भरत तो नाहरका बच्चा है, वह तो ऐसे-ऐसे अनेक राज्य अपने बाहुबलसे छीन सकता है। उसकी सहायताके हेतु तू रामको क्यों कष्ट देती है।

मानस-मयङ्क—'तूने प्यारे रामचन्द्ररूपी धेनुको मारकर राज्यरूपी आमिष भरतरूपी सिंहके लिये निकाल लिया जो कदापि उसे ग्रहण न करेंगे। जैसे सिंहका बच्चा दूसरेके मारे हुए पशुका मांस नहीं खाता†। अतएव तुझको महापातक ही हाथ लगा।'

अ० दी० च०—अथवा, राज्यश्री गाय है। उसको भरतरूपी सिंहके लिये मारा अर्थात् राज्यश्री जो श्रीरामजीको मिल रही थी उसे तूने विध्वंस कर दिया, नहीं होने दिया।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नहारू नसोंकी होती है, उसका बन्धन दृढ़ होता है। अर्थ हुआ कि ऐसी नहारू लगी हुई गायको मारती है। भरतराज्य-रक्षा-हेतु रामवनवास (का वर) नहारू है; राजा गाय हैं।' यह भाव 'बाबारामदासजी' की टिप्पणीसे मिलता है। मुख्य अर्थ उन्होंने 'बाघ' रखा है।

गौड़जी—मानसकारने उत्तरकाण्डमें मानस रोगोंमें *'नहरूआ'* शब्दका प्रयोग किया है। यहाँ *'नहारू'*

---

* करुणासिंधुजीने एक अर्थ 'खेतका अङ्कुर' भी लिखा है।

† महादेवदत्तजी लिखते हैं कि सिंह गायका मांस नहीं खाता।

भी सिंहके अर्थमें नहीं प्रत्युत रोगके ही अर्थमें आया है। नहरुवा रोग कमरके नीचे होता है। इसमें पहले पहल किसी स्थानमें सूजन होती है, फिर छोटा-सा घाव होता है और तब उसमेंसे डोरीकी तरहका कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है जो प्रायः गजों लंबा होता है। इस रोगसे कभी-कभी पैर आदि अङ्ग बेकार हो जाते हैं। टोटकेकी तरह ऐसा समझा जाता है कि गायका ताँत बाँधनेसे इसकी निवृत्ति होती है परंतु यह उपाय निश्चित फलदायक नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें भरतजीकी निर्विघ्न राजगद्दीके मनोरथके पूर्ण होनेमें जो संदेह कैकेयीके हृदयमें है वही नहरुवा रोगके समान है जो नीचेके अङ्गमें होता है। इसमें जो डोरी निकलती है वही उसकी विविध कुवासनाएँ हैं। यहाँ कल्याणमयी अयोध्या गाय है, भगवान्‌के वनगमनसे मानो कैकेयी अयोध्याकी गर्दनपर खाँड़ा (खड्ग) चला रही है। राज्य वह ताँत है जिसे बाँधकर अर्थात् भरतजीके लिये प्राप्त करके वह अपने कुटिल मनोरथको पूर्ण करना चाहती है, परंतु पछतायगी; क्योंकि इस टोटकेसे यह रोग अच्छा न होगा। अयोध्यारूपी गायकी व्यर्थ हत्या सिर चढ़ेगी। राजा दशरथके कहनेका यही भाव है।

भरतजीके लिये व्याघ्र, सिंह या बाजकी उपमा देना और भगवान् रामचन्द्र वा राजा दशरथके लिये गायकी उपमा देना मेरे निकट सर्वथा असङ्गत है। वीर रसका कोई प्रसङ्ग नहीं है इसलिये 'नाहर' की उपमा असङ्गत है। गाय स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये पुरुषोंकी उपमा उससे असङ्गत है; इसके सिवा सिंह या व्याघ्रके अर्थमें कोई चमत्कारिक रूपक भी नहीं घटता।

पं० रामकुमारजीका अर्थ (नहारू=बन्धन) बहुत विलक्षण है। यद्यपि कोशमें कहीं नहीं मिलता तथापि 'नहना, नथना' क्रिया प्रसिद्ध है और कोशोंमें मिलता है। इससे 'नहारू' शब्द बन्धनके लिये सहज ही अनुमित है। हाँ, नहारूके अन्तका उकार इस प्रयोगमें समझमें नहीं आता। इस वाच्यार्थके ग्रहणमें मेरे निकटमें अन्तिम उकार ही आपत्तिजनक है। नहीं तो अभिलाषाको वाग्बद्धा करके हत्याका इस प्रकार बहुत अच्छा रूपक होता है।

वीरकविजी लिखते हैं कि 'भरतको राज्य देनेकी इच्छा और नहरूआ रोग, राम-वनवास और गोवध, भरतका राज्य त्यागना और रोगका अच्छा न होना, परस्पर उपमेय उपमान हैं।'

श्रीनंगे परमहंसजी 'नाहरुह' पाठ देकर उसका अर्थ 'सिंह' करते हैं। वे लिखते हैं कि—'तू गऊको सिंहके भोजनार्थ मार रही है, अतः अन्तमें तुझे पछताना ही हाथ लगेगा। कारण कि जैसे सिंह अपना ही मारा हुआ शिकार खाते हैं, मुर्दाखोर नहीं होते इसी प्रकार श्रीभरतजी-रूपी सिंह अपने ही हक-(प्रारब्ध-) को भोगनेवाले हैं, वे दूसरेका हक (राजगद्दी) न ग्रहण करेंगे। अतएव भरतरूप सिंहके लिये मुझ गऊके प्राण (श्रीरामजी) को निकालकर हमारा राज्यरूप मांस भरतरूप सिंहको देना चाहती है। इससे तेरा मनोरथ सिद्ध न होकर उलटे हत्याके पापका पछतावा तुझे करना पड़ेगा।'

नाहरूका अर्थ जो लोग 'बाज' पक्षी या नहरूआ रोग करते हैं वह इसीलिये असङ्गत है कि बाजके लिये गऊका मारना क्यों कहा जायगा? उसका जोड़ तो लवा (बटेर) से है, यथा—*'बाज झपट जनु लवा लुकाने', 'लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू'* । और सिंहके लिये गऊके मारनेमें *'गोमुख नाहरनके न्याय'* (विनय० २२०) सम्बन्ध प्रमाण है। पुनः जो गायकी चर्बीसे रोगका अच्छा होना बताते हैं तो नहरूआ यदि अच्छा हो गया तो पछताना नहीं सिद्ध होगा। अतएव श्रीभरतलालको पक्षी और रोग बनाना अयोग्य है। ऐसेको पुरुषसिंह वा नरकेहरि कहना ही यथार्थ मालूम होता है। अतः पूर्वोक्त अर्थ सङ्गत है।

'किसी-किसीका मत है कि 'हारू' नाम पीड़का है। 'न हारू' अर्थात् (गाय मारनेमें) पीड़ा नहीं आती।' परंतु ऐसा अर्थ करनेमें *'पुनि पछितैहसि'* किसलिये कहा जायगा। किसीका मत है कि 'हार' के लिये गाय मार रही है। अर्थात् गाय हीराका हार निगल जाय तो उसके लिये उसका पेट फाड़ना चाहिये! कोई 'नहारू' का अर्थ तृण और कोई रस्सी करते हुए अर्थ करते हैं कि तृणके लिये मारती है अथवा रस्सीसे बँधी हुई गाय मारकर पछतायेगी। परंतु वे यह नहीं सोचते कि जिसे गोघातका पश्चात्ताप होना है क्या

उसे खुली हुई गाय मारनेसे पाप नहीं लगेगा। कुछ टीकाकारोंने श्रीरामजीको ही गायका उपमेय बनाया है परंतु यह भी सर्वथा असङ्गत है, कारण कि प्राण ले लेना सिद्ध होना चाहिये जो स्पष्ट राजा दशरथके लिये हुआ। अतः वह अपनेको ही गौ-रूप बना रहे हैं अर्थात् हम न जियेंगे और हमारा वध करना गौकी व्यर्थ हत्या करनी है। गौ-शब्दसे तीन अङ्ग सूचित हो रहे हैं और तीनोंका उपमेय याथातथ्य बैठ जाता है—एक तो गाय, दूसरा उसके प्राण, तीसरा उसका मांस (शरीर)। यही तीन अङ्ग राजा दशरथरूपी गायमें हैं। राजा दशरथ गाय हैं, श्रीरामजी उनके प्राण हैं, जिनके वियोगमें मृत्यु हुई है और राज्य ही उनका शरीर (मांस) है जिसे भरत-नाहरू अर्थात् सिंहके लिये कैकेयीने भोगार्थ रखना चाहा है, परंतु भरत सिंहने जब (मांसरूप) राज्य नहीं स्वीकार किया तब पछताना पड़ा है।'

उपर्युक्त लेखोंसे स्पष्ट है कि बहुमत इस पक्षमें है कि 'नहारू' का अर्थ सिंह है और श्रीदशरथजी गाय हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी=नहारू=ताँत, यथा—'**युमे नहारू च शिरा धम्यथ रसगा सा। अभिधानप्पदीपिकायाम्॥**' (यह पाली भाषाका कोष है।)

अर्धालीका भाव—ताँतकी आवश्यकता आ पड़नेपर कोई पशुवध नहीं कर डालता, क्योंकि ताँत सुलभ वस्तु है, उसके लिये गोवध तो वही कर सकता है, जिसे कोई पिशाच लगा हो, अपने होशमें कोई ऐसा गर्हित कार्य कर नहीं सकता, सो तू कर रही है। भरतके राज्यकी निर्विघ्नता ताँतके तुल्य है। उसके लिये हजारों साधन हैं तो उसके लिये निरपराध रामजीको वन देना गाय मारना है। जिसे पिशाच लगा होता है, वह ऐसा कर्म कर डालनेके बाद पिशाचके उतर जानेपर पछताता है, उसी भाँति तू भी पछतायगी। (गोवध करनेसे दोनों लोक बिगड़ते हैं। इसलिये अभागी कहा) यथा—'***अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच बिधि मीचु न देई॥***'

☞ कैकेयीके अन्तिम वचन हैं कि—सत्यवादीके लिये शरीर आदि तिनकेके समान कहे गये हैं; अतः वर देकर प्राणोंका लोभ कैसा? पछताना कैसा? उसके उत्तरमें राजा कहते हैं—'***चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥***' और उन्हीं वचनोंका अन्ततक निर्वाह किया है। अन्तमें कहते हैं कि तू पछतायगी, नहारूके लिये गाय मारती है। अर्थात् जिस भूपताको भरत नहीं चाहते और न लेंगे उसके लिये या भरतके लिये कि जो राज्य नहीं चाहते तू रामको दुर्बुद्धिके कारण वन देकर मुझे मारती है। इस पूर्वापर प्रसङ्गको ध्यान रखकर प्रेमी पाठक विचार करें कि नहारूका क्या अर्थ ठीक है और यह भी कि उस अर्थमें उसका प्रयोग कहीं हुआ है या केवल गढ़न्त है।

दो०—परेउ राउ कहि कोटि बिधि काहे करसि निदानु।
कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु॥ ३६॥

शब्दार्थ—निदानु=अन्त, नाश, यथा—'*नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन करहि निदाना॥*' (५।१२) मसानु (सं० श्मशान)=वह स्थान जहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं, मरघट। '**मसान जगाना**' मुहावरा है। योगिनी या भूत, प्रेत या मुर्दा सिद्ध करना।

अर्थ—राजा करोड़ों अर्थात् अनेकों प्रकारसे कह-समझाकर कि तू मेरा अन्त क्यों करती है, पृथ्वीपर गिर पड़े। परन्तु वह कपटमें चतुर है, कुछ बोलती नहीं (चुप साधे है) मानो मसान जगा रही है॥ ३६॥

टिप्पणी—१ (क) राजाका दो बार पृथ्वीपर गिरना लिखते हैं—'***देखी ब्याधि असाध नृप परेउ धरनि धुनि माथ।***' (३४) और यहाँ '*परेउ राउ*'''।' इससे सूचित होता है कि प्रथम पृथ्वीपर गिरनेके बाद जब कैकेयीने पुनः कटु, कठोर वचन कहे, तब सुनकर कैकेयीसे भावी कहने और उसे आँखोंसे ओझल हो दूर बैठने एवं चुप रहनेको कहनेके लिये उठ बैठे थे, जो कुछ कहना था कहकर और व्याकुल होकर पुनः गिर पड़े। अतः यहाँ पुनः 'परेउ राउ' कहा गया। जब सुमन्तजी आये तब भी राजा भूमिपर

पड़े हुए थे, यथा—'*सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।*' (३८। ७) श्रीरामजीके आनेपर उठे, यथा—'*सचिव सँभारि राउ बैठारे।*' (४४। २) पुनः, कविताकी रीतिसे दो बार गिरना लिखा। कविने प्रथम नदीका रूपक दिया था, यथा—'*अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ ढाहत भूप रूप तरु मूला।*' (३४। १, ४) उसके अनुसार दोहा ३४ में भूप-रूप-तरुका ढहना प्रत्यक्ष दिखाते हैं—'*देखी ब्याधि असाधि नृप परेउ*…।' फिर दूसरी उपमा दी थी कि '*ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥*' (३५। १) वृक्ष निपात होनेसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है। वह गिरना यहाँ लिखते हैं कि '*परेउ राउ।*'

टिप्पणी—२ '*जागति मनहुँ मसानु।*' यहाँ घर मसान है, यथा—'*घर मसान परिजन जनु भूता*' (८३। ७) और राजा प्रेत हैं, यथा—'*सचिव आगमन सुनत सब बिकल भयउ रनिवासु। भवन भयंकर लाग तेहि मानहुँ प्रेत निवासु॥*' (१४७) मसान जगानेवालेसे प्रेत विनती करते हैं और यहाँ राजा कैकेयीसे विनती करते हैं, यथा—'*परेउ राउ कहि।*' जैसे मसान जगानेवाला नहीं बोलता वैसे ही कैकेयी नहीं बोलती।

नोट—योगिनी या भूत-प्रेत या मुर्दा सिद्ध करनेवाले श्मशानमें जाकर तन्त्रशास्त्रके अनुसार मुर्देकी खोपड़ी या शवपर बैठकर मौन रहकर रातभर मन्त्र जपते हैं। प्रेत बहुत तरहसे शब्द करते, डरवाते, विनय करते इत्यादि अनेक बाधाएँ डालते हैं। यदि साधक बोल दिया तो कार्यसिद्ध होनेके बदले साधक प्रायः पागल हो जाता है। निर्विघ्न समाप्तिपर योगिनी सिद्ध हो जाती है।

पं० शिवलाल पाठक इसका अर्थ यह लिखते हैं—(दोहा) '*सब प्रिय घेरे प्रेत डर, शर औसरे निहार। कुटिला प्रिय डर भरत पर राघो मिलन सँभार।*' अर्थात् 'जैसे मुर्देके प्रिय लोग प्रेतके डरसे मुर्देको अगोरते हैं जबतक चिताका अवसर हो अर्थात् प्रातःकालतक; वैसे ही कुटिला कैकेयी इस डरसे जागकर राजा दशरथको अगोरती हुई भरत और रामचन्द्रके मिलनेको रोके हुए है कि कहीं राजा रामको बुलाकर कुछ कह न दें वा भरतके यहाँ कुछ सन्देशा न कहला भेजें।' (मा० म०) अथवा, कहीं राजा किसीसे मन्त्रियों वा गुरुजीको कहला न दें वा मेरे न रहनेपर वे स्वयं जाकर कह न दें कि तुमलोग बिना मेरे ही प्रातः रामको राज्य दे देना। अतः वह वहाँसे हटती नहीं है। इसीका भाव गणपति उपाध्याय यों लिखते हैं—(दोहा) '*छुए मृत्यु मकान को ताते जागु मसान। सिद्ध समय कोउ आइ कछु कहे न नृपके कान॥*'

टिप्पणी—३ '*कपट सयानि*…' इति। ऊपरसे मानो राजाके वचन मानकर नहीं बोलती, यथा—'*जब लगि जिअउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥*' इसीसे कपटमें सयानी कहा। हृदयसे यह बात नहीं है, वह तो अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये नहीं बोलती। वह सोचती है कि हमारा काम तो राजाके इन वचनोंसे सिद्ध हो गया कि '*अब तोहि नीक लाग करु सोई*' अब इनसे बोलनेका प्रयोजन ही क्या? बस अब तो राम यहाँ आवेंभर कि मैं उनको वन भेज दूँ। यही सोच-समझकर वह चुप साधे बैठी है, बोलती नहीं। मसान जगानेवाला यदि प्रेतकी विनय मान ले तो विघ्न हो जाय; वैसे ही कैकेयी (समझती है कि) यदि राजाकी विनय मैं मानूँ तो विघ्न हो जायगा। (नोट—जैसे रातभर मसानपर मौन होकर मन्त्र-जाप करनेसे सिद्धि होती है वैसे ही यहाँ अब रातभर ही मौन रहनेसे कार्यकी सिद्धि होगी। राजा सायंकालमें कैकेयीके भवनमें गये थे, यथा—'*साँझ समय सानंद नृप गयउ कैकई गेह।*' (२४) जानेके बाद ही उसने वर माँगा। इस संवादमें कुछ अधिक देर नहीं लगी। इस प्रकार रातभर हुआ। यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।)

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥ १॥
हृदयँ मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहइ जनि कोई॥ २॥
उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥ ३॥

शब्दार्थ—पंख=पक्ष, पर, डैने। बिहंग=पक्षी। बेहाल=व्याकुल, परेशान, सूल=(शूल) पीड़ा।

अर्थ—राजा राम-राम रटते (कहते) हैं और व्याकुल हैं मानो बिना पंखके पक्षी व्याकुल है॥ १॥ हृदयमें मनाते हैं कि सबेरा न हो, कोई रामजीसे जाकर कह न दे॥ २॥ हे रघुकुलमें श्रेष्ठ (बड़े अर्थात् पुरुषा) सूर्य! आप अपना उदय न करें, (अथवा, हे रघुकुलगुरु वसिष्ठजी! आप सूर्यका उदय न होने दें) अयोध्याको देखकर हृदयमें शूल होगा॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'राम राम रट'''''* इति। अर्थात् श्रीरामजीके लिये व्याकुल हैं। बिंना पङ्खके विहंगकी उपमा देकर कवि राजाकी अति दीनता सूचित करते हैं, यथा—*'जथा पंख बिनु खग अति दीना।'* (६। ६०। ९) राजा अनेक उपाय करके हार गये हैं। [यहाँपर राजारूपी पक्षीके दो वरदान ही दो पक्ष हैं जिनमेंसे एक राम-वनवाससे कट गया। (दीनजी)]

टिप्पणी—२ (क) *'हृदय मनाव'''''* इति। मनाते हैं कि भोर न हो, क्योंकि भोर होनेसे राम वनको चले जायँगे; कैकेयी कह ही चुकी है कि *'होत प्रात मुनि बेष धरि जो न राम बन जाहिं।'* (३३) हृदयमें मनाते हैं; क्योंकि एक तो देवता हृदयमें स्मरण करनेसे प्रसन्न होते हैं, दूसरे कैकेयी वहाँ बैठी हुई है उसके सामने राजा मुखसे ऐसा नहीं कह सकते थे कि *'भोर न होइ'* जब कि कैकेयी भोर होनेकी प्रतीक्षा कर रही है, तीसरे इस समय राजा बहुत व्याकुल हैं, बोलते नहीं बनता, इससे हृदयमें मनाते हैं। (वाल्मी० २। १३) में राजा रात्रिको सम्बोधन करके कहते हैं कि हे नक्षत्रोंसे सुशोभित रात्रि! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी समाप्तिपर प्रातःकाल हो। यथा—'**न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते।**' (१८) (ख)—*'कहइ जनि कोई'* अर्थात् हम तो अपने मुखसे वन जानेको कहेंगे नहीं, न कोई अवधवासी ही कहेगा, रह गयी कैकेयी, यही कहनेवाली है। (कह दे या किसीसे कहला भेजे) कैकेयीका नाम नहीं लेते क्योंकि वह शत्रु है—आँखोंकी ओट बैठी है, पर अब भी बोलनेको मन किये हैं। किसको मनाते हैं? सूर्यको; यह आगे स्पष्ट है।

टिप्पणी—३ *'उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर'* इति। (रात्रिको मनाया कि प्रभात न हो। फिर सोचे कि प्रभात न होने देना उसके वशकी बात नहीं है जबतक सूर्यदेव भी राजी न हों, अतः सूर्यको रघुकुलके पुरुषा सम्बोधन करके मनाते हैं) सूर्यको मनाते हैं कि सबेरा न हो। दिन करनेवाले सूर्य ही हैं। इनको मनानेका कारण कहते हैं कि तुम रघुकुलगुरु अर्थात् इस कुलके पुरुषा हो, कुलमें सबसे बड़े हो, बड़े अपने कुलकी रक्षा करते हैं; अतः आप भी करें। आप उदय न हों, क्योंकि आप इस कुलकी व्याकुलता देख न सकेंगे। *'रघुकुलगुरु'* से यह पाया जाता है कि रघुकुलहीको पीड़ा होगी इससे कहते हैं कि *'अवध बिलोकि'''* अर्थात् सबेरा होते ही रामके वनगमनकी खबरसे अयोध्यापुरीभर व्याकुल हो जायगी, उसे देखकर तुम्हारे हृदयमें भी पीड़ा होगी। [भाव यह कि जो आनन्द देखकर एक मास भूले रह गये थे, उसकी कसर निकल जायगी। (रा० प्र०) 'सबेरा न हो' यह मुहावरा है; इसका ठीक अर्थ है 'हम जीवित न रहें।' (दीनजी)]।

नोट—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी 'गुरु' से वसिष्ठजीका ही अर्थ लेते हुए लिखते हैं कि चक्रवर्तीजी मन-ही-मन मना रहे हैं कि भोर न हो, अवधपुरीकी शृङ्गारित मूर्ति देखकर हृदयमें शूल होगा। पर भोर होना तो रुक नहीं सकता, सूर्य उदय होते ही भोर हो जायगा। सूर्यकी गति किसीके रोके नहीं रुक सकती। अतः चक्रवर्तीजी विधिगति छेकनेवाले सर्वज्ञ रघुकुलगुरु वसिष्ठजीको मनाते हैं कि आप सदासे रघुकुलके दुःखका दलन करके कल्याण करते आये हैं, ब्रह्मदेवकी गतिको भी रोकते हैं, आप सूर्य उदय न होने दीजिये। आपकी इच्छाके प्रतिकूल सूर्योदय नहीं हो सकता। यथा—*'भानुबंस भए भूप घनेरे। सकल एकते एक बड़ेरे॥' जनमहेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देहिं बिधाता॥ दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना॥' सो गोसाँइ जेहि बिधि गति छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥'*

भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥ ४॥

बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा। बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥ ५॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक॥ ६॥

शब्दार्थ—**कठिनाई**=कठोरता, निष्ठुरता। **भिनुसारा**=(सं० भानु सरण)=सबेरा, प्रात:काल। **बिलपत**=विलाप करते, कलपते। **गुन**=गुण, यश, विरुदावलि।

अर्थ—राजा प्रीतिकी और कैकेयी निष्ठुरताकी सीमा हैं; ब्रह्माने दोनोंको सीमा रचकर बनाया है*॥ ४॥ राजाको विलाप करते-करते ही सबेरा हो गया। द्वारपर वीणा, बाँसुरी, शङ्खकी ध्वनि हो रही है॥ ५॥ भाट विरुदावली पढ़ते और गवैये गुणगान कर रहे हैं। सुनते ही राजाको वे मानो बाणसे लगते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई।·····'*** इति। शङ्का—'यहाँ राजाके विलापका प्रसङ्ग है' ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई'*** के कथनका कौन प्रयोजन है, प्रसङ्गसे मिलान नहीं होता? समाधान—सन्ध्यासे रात्रिभरमें जो चरित्र हुआ वह सब वर्णन किया। अब सबेरा हुआ, यथा—***'बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा।'*** अतएव यहाँ प्रसंगकी इति लगाते हैं। (नोट—***'भवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह॥'*** (२४) उपक्रम है और ***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि·····'*** उपसंहार है) ***'उभय अवधि'*** अर्थात् न ऐसी प्रीति किसीमें है और न ऐसी निठुरता। विधिने बनाकर रचा है—तात्पर्य कि ऐसी प्रीतिमें निष्ठुरता नहीं रह जाती और ऐसी निष्ठुरतामें प्रीति नहीं रह जाती। राजाकी प्रीति और रानीकी निष्ठुरता दोनों आदिसे अन्ततक बनी रहीं; क्योंकि ब्रह्माने अच्छी तरहसे बनायी है। राजाकी प्रीति कैकेयीपर बनी रही और कैकेयी राजापर निष्ठुर ही रही।

टिप्पणी—२ [(क) ***'बिलपत नृपहि भएउ भिनुसारा'*** अर्थात् राजाने वह भयङ्कर रात्रि बड़े दुःखसे बितायी। ***'बीना बेनु·····'***—यह गान और वाद्य राजाको प्रात:काल जगानेके लिये हुआ करता है, वही है। ऐसा वाल्मी० रा० का मत है।] (ख) ***'पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक।·····'*** इति। भाट गुण (यश) पढ़ते हैं, गवैये गुण गाते हैं। रातभर विलाप करते बीता, सबेरे श्रवण-सुखद मधुर शब्द सुनायी दिये। ये राजाको बाण-से लगते हैं। रामवनवास समझकर उन्हें कुछ नहीं सुहाता।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—***'बिलपत·····'*** इति। अयोध्यामें रातको सोया तो कोई नहीं, सब लोग रामदरस-लालसा और उत्साहके कारण जागे। चक्रवर्तीजी विलाप करते हुए जागे। जिस भोर होनेको डर रहे थे वह हो ही गया। वीणा, वेणु, शङ्खकी ध्वनि द्वारपर सुनायी पड़ी। महाराजाओंको जगानेके लिये महलके द्वारपर वीणा बजायी जाती है, जिसका अत्यन्त कोमल स्वर होता है, जिसमें महाराज सूखपूर्वक जागें। कदाचित् नींद कुछ अधिक लग गयी हो, इसलिये वीणाके बाद बाँसुरी बजाते हैं। राजा किसी हालतमें भी अरुणोदयमें सोते न रहें, इसलिये अन्तमें शङ्ख बजाते हैं। वाद्यके शब्दोंसे चक्रवर्तीजीने जाना कि अरुणोदय हो गया।

राजाको स्वधर्म-कुलधर्मके पालनमें उत्साह दिलानेके लिये तथा प्रतिज्ञापालनादि विशिष्ट गुणोंको दृढ़ करनेके लिये सूत, मागध और वन्दी लोग विरद कहते हैं, गुणगान करते हैं। आज चक्रवर्तीजीको विरद तथा गुणगानसे अधिक कष्ट हो रहा है; क्योंकि वे सब रामवनवासको ही बिना जाने पुष्ट कर रहे हैं। अत: वे बाणकी भाँति हृदयपर चोट कर रहे हैं।

नोट—'दशरथ-कैकेयी-संवाद' इति। यह संवाद कविकौशलका एक अपूर्व नमूना है। गोसाईंजीको इस संवादमें जिस प्रकारके दशरथजी और कैकेयी दिखलानी थी उसे अपने ही शब्दोंमें उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—***'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि·····॥'***

उनका यह प्रयत्न जैसा चाहिये वैसा ही अक्षरश: सफल हुआ है। अभीतक कैकेयीके समान हृदयवाला मनुष्य हमें कोई भी मिला नहीं जो यह संवाद सुनकर द्रवीभूत न हुआ हो।

---

* यों भी अर्थ होता है—राजाकी प्रीति और कैकेयीकी निष्ठुरता दोनोंको ब्रह्माने सीमा रचकर बनाया है।

कैकेयीके मुखसे हृदयभेदी और अपमानकारक शब्द निकलनेपर भी दशरथजीकी जिह्वाको कविने कुत्सित शब्दोंका स्पर्श न होने दिया। इसे ही हम दशरथजीके चरित्रकी और कविकी लोक-शिक्षाकी विशेषता समझते हैं। इस संवादका अंत कैसा हृदयभेदी हुआ, वह इस चौपाईसे ध्यानमें आ सकेगा। *'फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥'* (मा० हं०)

मंगल सकल सोहाहिं न कैसें। सहगामिनिहि बिभूषन जैसें॥ ७॥
तेहि निसि नीद परी नहिं काहू। रामदरस लालसा उछाहू॥ ८॥

अर्थ—राजाको ये सब मङ्गल कैसे अच्छे नहीं लगते, जैसे पतिके साथ सती होनेवाली स्त्रीको* 'विभूषण' (साज-शृङ्गार) भले नहीं लगते॥ ७॥ उस रातको किसीको भी नींद नहीं पड़ी; क्योंकि सबको रामके दर्शनकी अभिलाषा और उत्साह है॥ १८॥

टिप्पणी—१ *'सहगामिनिहि बिभूषन जैसें'* इति। सती होनेवाली स्त्रीको विभूषण नहीं सुहाते; क्योंकि जिसके लिये वह विभूषण पहिनती थी वह तो चला गया, अब विभूषण कैसे सुहावें। वैसे ही श्रीरामजीके लिये सब मङ्गल हो रहे थे सो वे तो वनको चले अब राजाको वे मङ्गल कैसे अच्छे लगें? सती पतिके साथ जाती है वैसे ही जब श्रीरामजी वनको चले जायँगे तब राजाकी मृत्यु हो जायगी। इसीसे 'सहगामिनी' अर्थात् साथ चलनेवालीकी उपमा दी। वीणा, बीन आदि सब मङ्गल हैं। इनका शब्द वे सुनना नहीं चाहते। वे बरियाई कानमें पड़ते हैं तब बाणके समान लगते हैं और अपनी ओरसे वे सब मङ्गल कैसे नहीं सुहाते, जैसे सहगामिनीको विभूषण नहीं सुहाते।

नोट—१ पतिके संग सती होनेवाली स्त्री सोलहो शृङ्गार करके तब पतिके साथ सती होती है। उसे साज-शृङ्गार भला नहीं लगता। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। (दीनजी)-जैसे स्त्री पतिके मरनेके कुछ देर बाद सती होती है वैस ही रामवनगमनके कुछ देर पीछे राजाकी मृत्यु हुई। सब शृङ्गार और लोग करते हैं, पर सतीको नहीं सुहाता, वैसे ही सब प्रजा आदि मङ्गल मना रहे हैं, पर वे राजाको नहीं भाते। (पण्डितजी) अ० दी० कार लिखते हैं कि सती होनेवाली स्त्री भूषणोंको अङ्गोंसे निकाल देती है परंतु शृङ्गार धारण कर लेती है अर्थात् जैसे सधवा स्त्री माथा गुहकर सिंदूर धारण कर लेती है वैसे ही राजाने मङ्गलको छोड़कर प्रेमरूपी शृङ्गार धारण कर लिया। अभिप्राय यह कि सहगामिनीको भूषण नहीं सुहाता वैसे ही राजाको मङ्गल नहीं सुहाते। और, जैसे सहगामिनी शृङ्गार धारण किये रहती है, क्योंकि शृङ्गार तो विधवाके लिये दूषण है और यह तो सती है, पतिके साथ जा रही है, यह क्यों विधवा बनकर शृङ्गार छोड़े। वैसे ही राजा रामप्रेमरूपी शृङ्गार धारण किये रहेंगे; क्योंकि ये तो रामवनगमन होनेपर अपने प्राणोंको भी उनके साथ चलता कर देंगे। (अ० दी० च०)
२—विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'मंगल सकल''''जैसे'* इति। भोर होते ही अयोध्यामें मङ्गल होने लगा। आज अयोध्यापुरीका यह सब मङ्गल महाराजको अच्छा नहीं लग रहा है, जैसे सती होनेवाली स्त्रीका शृङ्गार किसीको अच्छा नहीं लगता। यहाँ सतीके लिये 'सहगामिनी' शब्द दिया है, जिसका अर्थ है पतिके साथ जानेवाली। यहाँ अयोध्याकी उपमा सहगामिनीसे है, और मङ्गलकी उपमा विभूषणोंसे है। अब अयोध्याका शृङ्गार सहगामिनी-शृङ्गार हो गया। अवधपुरी रहेगी नहीं वह तो सरकारके साथ जायेगी, यथा—*'अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहहिं दिवस जहँ भानु प्रकासू॥'*

टिप्पणी—२ *'तेहि निसि नींद''''* इति। अर्थात् दर्शनकी लालसा और राज्याभिषेकका उत्साह है,

---

* श्रीजानकीजीवनशरणजी—सहगामिनी शब्द रूढ़िशक्तिद्वारा अपने पतिके साथ जानेवाली सतीके बोधकत्वमें तो शङ्काशून्य है; किंतु यौगिक पक्षमें आनेसे (सह अव्ययपूर्वक गमनार्थक धातुसे शीलार्थक प्रत्ययद्वारा निष्पन्न होनेपर) साथ गमनरूपार्थ पक्षमें लोकमें पतिके साथ गमनमें भूषणादि सुखप्रद हैं, तब तो शङ्काजनक अवश्य होगा, अतएव पङ्कजादिवत् योगरूढ़िद्वारा 'परलोकको पतिके साथ गमन करनेवाली' सतीबोधक पक्षमें लेनेसे शङ्का नहीं रहती।

यथा—*'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'* (११। ५) नींद किसीको न पड़ी, राजा और कैकेयीको भी न पड़ी; पर इनके नींद न पड़नेका हेतु भिन्न-भिन्न है। कैकेयीको अपना कार्य साधना था, यथा—*'कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसान।'* राजाको रामवनवासके कारण कलपते बीता और पुरवासियोंको उत्साहके कारण।

नोट—२ सबके नींद न पड़नेका कारण कहा गया—*'रामदरस लालसा उछाहू'*; **'ब्राह्मणस्य ग्रामोऽयम्'** इस न्यायसे ऐसा कहा गया अर्थात् यहाँ केवल सब अवधवासी प्रजागणसे प्रयोजन है। सबको चटपटी लगी हुई है कि कब हम समस्त आभूषणोंसे सुसज्जित कोटिकामकमनीय पीताम्बरधारी श्यामवर्ण श्रीरामको राज्याभिषेकके अनन्तर हाथीपर सवार आते हुए देखेंगे, वह मङ्गल-प्रभात कब होगा? इत्यादि लालसा सबकी थी। यथा—**'स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च रात्रौ निद्रां न लेभिरे। कदा द्रक्ष्यामहे रामं……'** इत्यादि (१३। २। ५) नोट २ देखिये।

दो०—द्वार भीर सेवक सचिव कहहिं उदित रबि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति कारनु कवनु बिसेषि॥ ३७॥

अर्थ—द्वारपर सेवक, मन्त्री आदि सभीकी भीड़ लगी है। सूर्योदय देखकर वे सब कह रहे हैं कि अवधपति महाराज दशरथजी अभीतक नहीं उठे, क्या विशेष कारण है?॥ ३७॥

टिप्पणी—१ (क) *'द्वार भीर'*—पूर्व उपक्रममें लिखा है कि *'एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।'* (२३) यहाँ *'द्वार भीर सेवक सचिव'* से उसका उपसंहार किया। 'दरबारका अर्थ द्वार, दरवाजा यहाँ स्पष्ट किया। विश्वामित्र-आगमन और अङ्गद-रावण-संवाद-प्रकरणमें भी दरबार शब्द इसी अर्थमें आया है, यथा—*'करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार।'* (१। २०६) *'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै बिप्र समाजा॥'*, *'गयउ सभा दरबार तब सुमिरि राम पद कंज'*……*तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिं सुनावा॥'* (६। १९। १) अर्थात् अङ्गद सभास्थानके दरवाजेपर गये। (ख)-रामराज्याभिषेकका समय है इसीसे द्वारपर भीड़ है। सेवक, सचिव सब काम करनेवाले हैं, पर बिना आज्ञाके काम नहीं कर सकते। यथा—*'जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिअ काजु रजायसु पाई॥'* (३८। २) (*'द्वार भीर'*……*'कहहिं'* इति। वाल्मी० १४। ३० तथा सर्ग १५। १, १३ से स्पष्ट है कि पुरवासी, राज्यके लोग और अनेक बाहरसे आये हुए राजा वहाँ भरे हुए थे। दण्डधारी ब्राह्मण, राजपुरोहित, राजा लोग अभिषेककी सामग्री लिये हुए खड़े हैं। वसिष्ठजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि राजासे जाकर कहो कि शीघ्रता करें, राजाओंने कहा कि सूर्योदय हो गया, राजा नहीं देख पड़े, उन्हें खबर कर दो कि तिलककी—अभिषेककी सामग्री लेकर हमलोग आ गये हैं। यहाँपर भी सेवक, मन्त्री आदि सभीका कहना सूचित करते हैं। कहनेवाले कई हैं यह *'आज हमहिं बड़ अजरज लागा'* से स्पष्ट है, *'हमहिं'* बहुवचन है)। अजहुँ=अबतक। अर्थात् रोज दो पहर रात रहे जागा करते थे, यथा—*'पछिले पहर भूप नित जागा।* (३८। १) और आज सूर्योदय हो गया अबतक न जगे। (ग) *'अवधपति'* अर्थात् अवधकी रक्षा उनके जागनेसे है। यथा—*'गुरु ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान।'* (१। २२६) और *'राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगपति जागे॥'* (१। ६०। ३) तथा यहाँ *'जागेउ अजहुँ न अवधपति।'* ईश्वर जगत्पति हैं, अतः ईश्वरके जगनेमें *'जगतपति'* विशेषण दिया और राजा जीव हैं इससे उनके जागनेमें *'अवधपति'* विशेषण दिया। पुनः *'अवधपति'* का भाव कि अवधभरके लोग जागे हुए हैं और ये तो अवधपति हैं ये कैसे अभीतक न जगे। (घ) *'कारनु कवनु बिसेषि'* अर्थात् सामान्य कारणमें ऐसा मोहित न होते, कोई विशेष कारण है।

नोट—मन्त्रियोंके नाम ये हैं—'**धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥**'

पछिले पहर भूपु नित जागा। आजु हमहिं बड़ अचरजु लागा॥ १॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिअ काजु रजायसु पाई॥ २॥

गए सुमंत्रु तब राउर* माहीं। देखि भयावनु जात डेराहीं॥ ३॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पछिले पहर**—तीन पहर रात बीतनेपर, तीन बजेके उपरान्त ब्राह्ममुहूर्त्तमें। **अचरज**=आश्चर्य, अचम्भा। राउर (राज+पुर)=राजमहल, यथा—'*राउर नगर कोलाहल होई।*' (२३। ८) '*भयउ कोलाहल अवध अति सुनि नृप राउर सोर।*' (१५३) **धाइ**=दौड़कर। **हेरा**=देखा। **बसेरा**=पक्षियोंके संध्यासमय ठहरनेके स्थानको 'बसेरा' कहते हैं; बसेरा करना=वास करना, डेरा डालना, अड्डा बनाना।

अर्थ—राजा नित्य ही रात्रिके पिछले पहर जागते थे, आज हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है॥ १॥ सुमन्त्र जाओ, जाकर राजाको जगाओ उनकी आज्ञा पाकर हम लोग काम करें॥ २॥ तब सुमन्त्र राजमहलमें गये। उसे भयावन लगता देख वे भीतर जाते डरते हैं॥ ३॥ मानो वह दौड़कर खा लेगा; देखा नहीं जाता, मानो विपत्ति और विषादने वहाँ बसेरा किया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*पछिले पहर भूपु नित जागा।*…' इति। अर्थात् सब दिन सावधान रहे; आज कैसे असावधान हो गये, आज तो और रोजसे भी अधिक सावधान रहनेका अवसर था। ऐसा पूर्व कभी नहीं हुआ, अतः आश्चर्यकी बात ही है।

टिप्पणी—२ '*जाहु सुमंत्र जगावहु जाई*…' इति। (क) इससे सूचित किया कि सिवाय सुमन्त्रजीके और कोई भीतर नहीं जा सकता था। [सुमन्त्रजीका राजभवनमें बेरोक-टोक प्रवेश था। उनके लिये राजाकी प्रथमसे ही आज्ञा थी कि इस वृद्धको कोई द्वारपाल न रोके। यथा—'**तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः॥ न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः।**' (वाल्मी० २। १४। ४४) 'जाओ, जाकर जगाओ' इस प्रकार बोलनेका मुहावरा है, यथा—'*रामकाज अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥ जनक सुता कहँ खोजहु जाई।*' (४। २२। ६, ७) आज्ञा पाकर हम लोग काम करें, इससे जनाया कि यह कार्य बिना राजाकी आज्ञाके मन्त्री न कर सकते थे।

वि० त्रि०—सुमन्त्रसे सब लोग कहते हैं कि महाराजके शयनागारतक तुम्हारा ही प्रवेश है और तुम्हीं महाराजको जगा सकते हो। यदि महाराज अस्वस्थ हों तो उनकी आज्ञा लेकर कार्यारम्भ तो कर दो। यहाँपर गोस्वामीजीने राजदरबारका कायदा दिखलाया। 'महाराज अस्वस्थ तो नहीं हैं?' ऐसा न कहकर दरबारी लोग कहते हैं '*पछिले पहर भूप नित जागा। आज हमहिं बड़ अचरज लागा॥*' महाराजके लिये अमङ्गल शब्द 'अस्वस्थ होना' नहीं कहेंगे। अक्षयकुमार-वधका भी संदेश सैनिकोंने रावणको '*प्रभु मर्कट बलभूरि*' कहकर ही दिया है।

टिप्पणी—३ (क) '*गए सुमंत्रु तब*'—अर्थात् वसिष्ठादि सबके कहनेपर गये। (ख) '*देखि भयावनु*…' इति। राजाके व्याकुल होनेसे राजमहल भयानक हो गया। इसी तरह पुरवासियोंके व्याकुल होनेपर पुर भयावन लगा है, यथा—'*लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥*' (८३। ५)

टिप्पणी—४ (क) '*धाइ खाइ*…' से सूचित होता है कि अभी सुमन्त्र भीतर नहीं पहुँचे हैं कुछ दूरीपर हैं, '*धाइ खाइ*' अर्थात् धावनेभरकी जगह बीचमें है। खाने ही चाहता है, इस कथनसे सूचित किया कि कालके समान भयानक है, इसीसे देखा नहीं जाता। ('दौड़कर खा ही लेगा' और 'देखा नहीं जाता' ये मुहावरे हैं, ऐसा बोलनेकी रीति है, भाव यह कि बहुत भयंकर लगता है। वीरकविजी लिखते हैं कि मकान चेतन जीव नहीं है जो दौड़कर खा लेगा। यहाँ 'सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा' है।) (ख) '*मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा*'—विपत्तिरूपा कैकेयी है, यथा—'*बिपति बीजु बरषा रितु चेरी।*

* 'पाहीं' पाठ लालासीतारामजीवाली प्रतिमें है और ना० प्र० में। 'माहीं'—पं० राम गु० द्वि०, वन्दन पाठकजी, काशिराज इत्यादिकी प्रतियोंमें है। पाहीं=पास। 'पाहीं' पाठ समीचीन नहीं है, क्योंकि आगेकी चौपाइयोंसे विरोध होता है। 'राउर पाहीं' का अर्थ 'राजाके पास' किया गया है। आगेकी चौपाईसे तब भाव यह होगा कि राजाको भयावन देखकर भीतर जाते डरते हैं, पर अभी वे राजाके पास नहीं पहुँचे हैं। राजाके पास पहुँचना आगे कहा गया है।

भुइँ भइ कुमति कैकई केरी॥' (२३। ५) और विषादरूप राजा हैं। भाव यह कि ये राजा-रानी नहीं हैं मानो मूर्तिमान् विषाद और विपत्ति हैं और यह स्थान राजा-रानीका नहीं है; किंतु मानो विपत्ति-विषादका निवासस्थान है। (ग) पहले विपत्ति लिखा तब विषाद; क्योंकि यहाँ पहले विपत्तिरूपा कैकेयीने आकर वास किया, पीछे विषादरूप राजा आये। जिस क्रमसे विपत्ति-विषाद आये, उसी क्रमसे गोसाईंजीने लिखा। [(घ) विपत्ति और विषादका निवास कहनेमें रूढ़िलक्षणाद्वारा 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है; क्योंकि इसमें मुख्यार्थ 'फैल रहा है' का बाध होकर 'निवास' कहा गया, जो संसारमें प्रसिद्ध है कि उनके यहाँ विपत्तिका घर हो गया है (वीर)।]

श्रीबैजनाथजी—*'धाइ खाइ…'* इति। भाव कि राजा-रानीके निवास-स्थान-सा नहीं लगता। विपत्ति और विषादका मानो यहाँ निवास है। धन-धामादि सर्वाङ्ग-सुखकी हानि, शत्रुवश और अयश-लाभादि 'विपत्ति' है, यह मूर्तिमान् कैकेयी है। इष्टहानिका असमंजस विषाद है, यह दशरथजी हैं।

पूछें कोउ न ऊतरु देई। गए जेहि भवन भूप कैकेई॥५॥
कहि जय जीव बैठ सिरु नाई। देखि भूप गति गएउ सुखाई॥६॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ॥७॥
सचिउ* सभीत सकै नहिं पूछी। बोली असुभ भरी सुभ छूछी॥८॥

अर्थ—पूछनेपर कोई उत्तर नहीं देता (बोलता ही नहीं)। (तब वे) जिस घरमें राजा और कैकेयी थे, वहाँ गये॥५॥ 'जयजीव' कहकर सिर नवाकर (झुकाकर, प्रणाम करके) बैठ गये। राजाकी दशा देख वे सूख गये॥ ६॥ (देखा कि राजा) सोचसे व्याकुल द्युतिहीन पृथ्वीपर पड़े हैं, मानो जड़से छूटा उखड़ा हुआ (जड़-रहित) कमल पड़ा है॥ ७॥ मन्त्री डरके कारण कुछ पूछ नहीं सकते। अशुभसे भरी हुई और शुभसे खाली कैकेयी बोली॥८॥

टिप्पणी—१ (क) **'पूछें कोउ न ऊतरु देई'** से जनाया कि महलमें बहुत-सी दासियाँ थीं; उन्हींसे पूछा कि राजा किस भवनमें हैं। किसीने उत्तर न दिया; क्योंकि सब डरती थीं कि राजा-रानी एकान्तमें हैं, वहाँ किसीके जाने योग्य नहीं है, ऐसा न हो कि हमारे बता देनेसे इनके वहाँ जानेपर हमको दण्ड मिले। (वाल्मी० और अ० रा० में ऐसा नहीं है। वहाँ तो सुमन्त्रजी सीधे राजाके पास पहुँच गये हैं)। (ख) *'गए जेहि भवन भूप कैकेई'* इति। पूछनेसे कोई उत्तर नहीं देता तब सुमन्त्रजी कोपभवनमें गये। इस कथनसे जान पड़ता है कि ऐसा भी कोई चिह्न वहाँ था जिससे यह जान लिया जाय कि राजा-रानी कोप-भवनमें हैं; उसीसे सुमन्त्रजीने पहचाना। प्रथम कहा कि सुमन्त्र राजमहलमें गये, फिर कहा कि जिस भवनमें राजा-रानी हैं वहाँ गये, तात्पर्य यह कि राजमहलमें अनेकों भवन हैं, उनमेंसे उस भवनमें गये जहाँ ये दोनों थे।

वि० त्रि०—सुमन्त्रजी पहिले शयनागारमें गये, वहाँ राजाको न पाया। समझे कि नित्यकृत्यमें लगे होंगे, तब दास-दासियोंसे पूछते हैं, कोई बोलता नहीं। सब लख रहे कि दम्पतिको कोई बड़ा भारी असमंजस पड़ा हुआ है। कुछ भी बोलनेसे न जाने क्या अर्थ लग जाय, अतः सब एकदम चुप हैं। मन्त्री है, तुरंत लख गया कि कोपभवनमें हैं, अतः जहाँ राजा-रानी थे वहाँ चले गये।

टिप्पणी—२ [(क) *'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई'* इति। 'जयजीव'—दोहा ५ (२) में देखिये। यथा—**'वर्धयन् जयशब्देन प्रणमन् शिरसा नृपम्।'** (अ० रा० २। ३। ४३) अर्थात् जय-जयकार कर उन्होंने राजाको सिर झुकाकर प्रणाम किया। यही भाव यहाँ है। बैजनाथजीका मत है कि 'राजाकी दीन दशा देखकर चिन्ताके कारण सिर नीचा करके बैठ गये। सोचमें ऐसा होता है।'] (ख) **'देखि भूप…'** इससे जनाया कि राजा व्याकुल पड़े थे, वे मन्त्रीसे न तो कुछ बोले ही और न उधर

* 'सचिउ'—(राजापुर, काशिराज)। 'सचिव'—भाग० दा०।

देखा ही। सुमन्त्रजीने मुखसे 'जयजीव' कहा, तनसे प्रणाम किया और राजाकी दशा देख सूख गये अर्थात् सोचवश हो गये, यह मनका धर्म है।

टिप्पणी—३ *'मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ'* इति। पूर्व राजाके शरीरको कल्पतरुकी उपमा देकर राजाकी उदारता दिखायी थी, यथा—*'करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।'* (३५। १) राजाका तन सबके लिये कल्पवृक्षके समान था, यह दिखाया। और यहाँ *'मानहुँ कमल·····'* में तनकी सुन्दरता कही। सुन्दर शरीर जो कमलके समान सुन्दर था वह मलिन हो गया है। राम-वनगमनका शोच है जिससे व्याकुल हैं, व्याकुल होनेसे देहका रंग नष्ट हो गया है। जब कमल सूखता है तब काला हो जाता है; इसी तरह इनका कमलसमान लाल शरीर श्याम हो गया। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। यहाँ रामजी मूल हैं। [रामवियोग मूलका उखड़ना है, विरह-तापसे विवरण होना राजाका सूखना है। (खर्रा, बैजनाथजी)]

प० प० प्र०—*'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ'* इति। प्रथम भी कविने विवरण होना कहा है, यथा—*'बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥'* (२९। ५) वज्रपात होनेसे ताड़का वृक्ष तो काला पड़ ही जाता है, पर पृथ्वीपर नहीं गिरता, खड़ा ही रहता है। और कमल जब जड़से उखाड़ा जाता है तब वह गिर पड़ता है, मुर्झा जाता है। उसके सौन्दर्य, कोमलता, प्रफुल्लता आदि सब गुण दूर हो जाते हैं, वह अत्यन्त मलिन हो जाता है। वही सब दशा चक्रवर्तीजीकी हुई।

टिप्पणी—४ *सचिउ सभीत सकै नहिं पूछी।·····'* इति।—बिना समझे कैसे पूछें, डरते हैं कि समाचार पूछने लायक है कि नहीं। (राजाकी यह दशा देखकर डर गये हैं—रा० प्र०)। 'अशुभ भरी' कहा; क्योंकि जो बात वह बोली। जो कह रही है वह सब झूठ है, सत्य नहीं है। *'परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु',* यह झूठ है। नींद न पड़नेका कारण आप जानती है और कहती है कि जगदीश जानें, अर्थात् मैं नहीं जानती। पुनः कहती है कि *'रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु'* यह भी झूठ है, सब मर्म जानती है। असत्य बोलना अशुभ है, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* [रामराज्याभिषेकोत्साहरूपी 'शुभ' से खाली है—(पण्डितजी)] अलंकार—'मिथ्याध्यवसित'।

बैजनाथजी—१—*'सचिउ सभीत'* इति। भाव यह कि यदि कोई रोग होता तो कैकेयी उदास होती पर वह उदास नहीं है वह तो रुष्ट-सी बैठी है (कोपभवनमें है) जान पड़ता है कि आपसमें दोनोंमें कुछ असम्मत है। सुमन्त्रजीने जब स्वयं कुछ न पूछा, तब वह अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये अपनेहीसे झूठी बात बनाकर बोली। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब राजा अधिक दुःख होनेके कारण कुछ बोल न सके तब अपने कार्यसिद्धिके लिये बोलनेमें चतुर कैकेयी सुमन्त्रजीसे बोली। यथा—'**यदा वक्तुं स्वयं दैन्यात्र शशाक महीपतिः। तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह॥**' (२। १४। ५९)

दो०—परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु।
रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु॥ ३८॥
आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूछेहु आई॥ १॥

अर्थ—राजाको रातमें नींद नहीं पड़ी; इसका कारण तो भगवान् ही जानें। राजाने राम-राम रटकर सबेरा कर दिया, परंतु इसका भेद न बतलाया॥ ३८॥ रामचन्द्रजीको शीघ्र बुला लाओ, तब आकर समाचार पूछना॥ १॥

टिप्पणी—१ भाव यह कि राजाने रातभर राम-राम रटकर सबेरा कर दिया, कुछ मर्म बताया नहीं इसीसे हमको भी नहीं मालूम हो सका कि क्या बात है। ऐसा कहकर वह भेद छिपाती है, डरती है कि मन्त्रियोंको मालूम हो जायगा तो वे तुरंत तिलक कर देंगे, क्योंकि राजा प्रथम राज्याभिषेककी आज्ञा दे ही चुके हैं।

टिप्पणी—२—'हेतु जगदीश जानें'—भाव कि ये महीश हैं, इनके हृदयकी और कौन जान सकता है? जगदीश जगत् भरके स्वामी हैं, अतः वे ही जानें।

नोट—अ० रा० में दोहेके *'परी न राजहि नीद निसि'* और *'रामु रामु रटि भोरु किय'* से मिलता हुआ श्लोक यह है—**'तमाह कैकेयी राजा रात्रौ निद्रां न लब्धवान्॥' 'राम रामेति रामेति राममेवानुचिन्तयन्॥'** (२। ३। ४४-४५) अ० रा० की कैकेयीने राजाके अस्वस्थ होनेका कारण रात्रिमें नींद न पड़ना बताया है और वाल्मीकिकी कैकेयीने कहा है कि रामराज्याभिषेककी प्रसन्नतामें रातभर सोये नहीं अतः जागरणके कारण थककर सो गये हैं। मानसकी कैकेयी *'कहइ न मरमु महीसु'* और *'हेतु जान जगदीसु'* कहती है। झूठ तीनोंहीने कहा, तीनोंने मर्म छिपाया। *'कहइ न मरमु महीसु'* ये शब्द बड़े जोरके हैं, इसीसे मानसके सुमन्त्र तुरत चल देते हैं कि रामको ले आवें जिसमें दुःख शीघ्र मालूम हो जाय। वाल्मी० और अ० रा० के सुमन्त्र उसके कहनेपर भी रुके हैं, राजाके कहनेपर बुलाने गये हैं।

टिप्पणी—३—*'आनहु रामहि बेगि…'* इति। रामचन्द्रजीको बुलानेका हेतु यह है कि राजाके सामने वनवास अङ्गीकार हो जाय, मुनिवेष बनाकर वे वनको चल दें। 'बेगि' क्योंकि तिलककी सब सामग्री तैयार है, तिलकका समय भी आ गया है, ऐसा न हो कि तिलक कर दें। अथवा, राजाको दुःखी देखकर यहाँसे उठा ले जायँ। तब राजाके सामने रामको वनवास कैसे करा सकूँगी। राजा अपनी ओरसे वन जानेको नहीं कहेंगे और यहाँ तो उनकी ओरसे मैं ही कह दूँगी, इत्यादि, अनेक विघ्नोंका भय कैकेयीको है। इसीसे वह बुलानेमें शीघ्रता कर रही है, और इसीसे वह कहती है कि पहले शीघ्र बुला लाओ तब समाचार आकर पूछना। समाचार पूछनेकी कोई जल्दी नहीं है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—*'बेगि बोलाई'* और *'समाचार तब पूछेहु आई'* का भाव यह कि महाराजको पीड़ा अधिक जान पड़ती है, देर हो जानेसे न जाने क्या हो जाय, इससे रामजीको जल्द बुला लाओ।

पंडितजी—१ *'कहइ न मरमु महीसु'* अर्थात् मैं उनकी प्राणप्रिया, सो जब मुझसे ही न कहा तो तुमसे कब कहेंगे? राम उनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, उनसे अवश्य बता देंगे। अतएव उनको ही शीघ्र ले आओ। २—*'आनहु बेगि बोलाई'* का भाव कि तुम भी साथ आना, केवल रामको ही न भेज देना। इस कथनका आशय यह है कि ये भी तो तिलकके सलाहकारोंमेंसे हैं ये भी जान लें, इनके आगे भी रामके वनवासका ठीक हो जाय। दोनोंका मुकाबला करा दूँ, ये दोनों वरदान पानेका हाल जान जायँ जिसमें फिर कोई बात टाल न सके।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'परी न राजहि…आई'* इति। बात अक्षरशः सत्य है, *'बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा'* नींद तो नहीं ही लगी। परमेश्वर सर्वज्ञ है, उसे सब कुछ परिज्ञात है, वह हेतु भी जानता ही है। *'रामु रामु रटि भोरु किय'* यह भी ठीक ही है। *'देखी ब्याधि असाधि नृप परेउ धरनि धुनि माथ। कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥'* (३४) 'राम राम' राजा कहते ही थे, कैकेयीके *'देहुँ उतरु अनु करहुँ कि नाहीं'* कहनेपर न राजा 'हाँ' कहते हैं और न 'ना' कहते हैं, अतः *'कहइ न मरमु महीसु'* कहना भी ठीक ही है, फिर भी भावोपहत होनेसे कोरा-कोरा झूठ है।

कैकेयीने देख लिया कि मन्त्रीने जान लिया कि महाराज सोचसे विकल हैं और महाराजकी गति देखकर भयभीत हो गया है, कारण पूछना चाहता है, पूछनेका साहस नहीं हो रहा है। कहीं साहस करके पूछ न बैठे, और महाराज यथार्थ बात कह न दें। वह चाहती है कि यदि बात खुले तो रामजीके सामने खुले। उनके सामने खुलनेपर वे निश्चय वनको चले जायँगे। अतः जो कहती है, उसका आशय यह है कि राजाको ऐसी चिन्ता है कि रातको नींद न आयी, और वह इस प्रकारकी चिन्ता है कि मुझसे भी कहना नहीं चाहते, दूसरेसे क्यों कहने लगे। उनके बार-बार राम-नामके उच्चारणसे पता चलता है कि वह राम विषयक चिन्ता है, पर यह बतलाते नहीं मालूम होता है कि रामसे ही कहेंगे। सो रामको शीघ्र बुला लाओ, पीछे हाल-चाल पूछना। उन्हींके सामने वे कहेंगे।

चलेउ सुमंत्रु राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी॥ २॥
सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहि बोलि कहिहि* का राऊ॥ ३॥
उर धरि धीरज गयेउ दुआरें। पूँछहिं सकल देखि मनु मारें॥ ४॥
समाधानु करि सो सबही का। गयेउ जहाँ दिनकर कुल टीका॥ ५॥

शब्दार्थ—**रुख**=इशारा, मर्जी, चेष्टासे इच्छा (जानकर)। 'मनु मारे'=उदास, म्लान। **समाधानु**=शङ्का वा सन्देह निवारण, सन्तोष, निराकरण।

अर्थ—राजाका रुख जानकर सुमन्त्रजी चले, ताड़ गये कि रानीने कुछ कुचाल की है॥ २॥ सुमंतजी सोचसे व्याकुल हो गये हैं, रास्तेपर पैर नहीं पड़ता (पैर डगमगाते हैं)। वे सोचते हैं कि 'रामको बुलाकर राजा क्या कहेंगे?'॥ ३॥ हृदयमें धीरज धरकर वे द्वारपर गये। सब लोग इन्हें उदास देखकर पूछने लगे॥ ४॥ वे सबके सन्देहका निवारण करके वहाँ गये जहाँ सूर्यकुलके तिलक श्रीरघुनाथजी थे।

वि० त्रि०—'**चलेउ सुमंत्रु**'''*का राऊ*' इति। अयोध्यामें बहुत कुछ कार्य रुख देखकर होता है। जो स्वामीके मनमें अपना मन लगाये रहते हैं, वे ही रुख समझ सकते हैं, यथा—'***जोगवत रहत मनहि मन दीन्हे।***' जो प्रेमी हैं वे रुख देखते हैं, जो भयभीत हैं वे भृकुटी देखते हैं, यथा—'***लोकप करहिं प्रीति रुख राखे।***' वही लोकप रावणकी भृकुटी देखते हैं, यथा—'*भृकुटि बिलोकहि सकल सभीता।*' सुमन्त्र मन्त्री हैं, रानीके कहनेपर नहीं गये। महाराजकी ओर देखा। रुखसे मालूम हो गया कि महाराजकी भी यही इच्छा है। अतः चल पड़े, और यह भी लख लिया कि रानीने कोई कुचाल किया है। रानीका कहना कि '***मरमु न कहइ महीस***' सुमन्त्रजीके मनमें बैठा नहीं। सुमन्त्रने देखा कि रानीके कोपभवनमें महाराज हैं, इससे स्पष्ट है कि रानी कुपित होकर कोपभवनमें गयी, महाराज मनानेके लिये अवश्य गये होंगे। यही बात बिगड़ी है। आज रामजीका अभिषेक है, और महाराज रामजीको बुलाना चाहते हैं। अवश्य उनसे कोई ऐसी बात कहेंगे, जो महाराजके हृदयके अत्यन्त प्रतिकूल है, और यह कहना रानीके कुचालका ही फल है। दूसरा कारण कुछ हो नहीं सकता।

रामजीके प्रति कोई ऐसी प्रतिकूल आज्ञा इन्हें देनी है, कि उस दुःखसे राजाका यह हाल हो रहा है। अतः कोई घोर अनिष्ट रामजीपर दिखायी पड़ता है। मन्त्रीने अपने बुद्धि-वैभवसे परिस्थितिके विशेष रूपको तो नहीं पर सामान्य रूपको ठीक-ठीक जान लिया, अतः सोचमें ऐसे विकल हैं, कि रास्तेमें पैर नहीं पड़ता, और इस बातकी चिन्ता है कि रामजीको बुलाकर राजा कौन-सी अनिष्टकारक बात कहेंगे। उस विशेष बातका पता लग जाय तो मन्त्री उचित कार्यवाही करे, नहीं तो सामान्य सन्देशहरकी भाँति रामजीको बुलाना ही कर्तव्य रह गया।

टिप्पणी—१ '*राय रुख जानी*' इति। यद्यपि राजा व्याकुल हैं तथापि सुमन्त्रजी उनका रुख जान गये, कारण कि सदा राजाका रुख देखते रहते थे। वे यह भी समझ गये कि रानीने कुछ कुचाल की है पर क्या कुचाल की यह न समझे। वे यह न जान पाये कि रामको बुलाकर वन भेज देगी। तात्पर्य कि यदि ये जान पाते तो कदापि रामजीको लाकर इसका सामना न कराते, अपने काबू भर और उपाय करते।

नोट—१ ऐसा जान पड़ता है कि जब रानीने रामजीको शीघ्र बुला लानेको कहा तब सुमन्त्रजीने राजाकी ओर देखा, उस समय राजाने कुछ चेष्टा की जिससे जान पड़ा कि इसमें उनकी मर्जी है कि बुला लावें। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयीके कहनेपर कि शीघ्र जाकर बुला लाओ कुछ इसमें विचार न करो, उन्होंने यही कहा कि मैं बिना राजाकी आज्ञा कैसे जा सकता हूँ। यथा—'**अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि।**' (२। १४। ६२) यह सुनकर राजाने कहा कि रामचन्द्रजीको शीघ्र ले आओ, मैं मनोहरमूर्ति श्रीरामजीको देखना चाहता हूँ। यथा—'**सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।**' (२। १४। ६३)

* 'कहहिं'—(लालासीताराम)। 'कहिहि'—(पं० रामगु० द्वि, बन्दन पाठक, काशिराज, भा० दा०)

पर मानसके दशरथजीने अपने मुखसे नहीं ही कहा। कैकेयीने शीघ्र बुला लानेको कहा था। इससे सुमन्त्रजीको चिन्ता हो गयी थी कि क्या बात है; अतः वे कुछ रुके और राजाकी ओर देखा। उनकी चेष्टासे अनुमति जान ली। अथवा (रा० प्र० के अनुसार) रानीकी बात सुनकर भी राजाके न बोलनेसे उनका भी सम्मत बुलानेमें समझा—'**मौनं सम्मतलक्षणम्**।' मानस कविने *'रुख जानी'* शब्द देकर अन्य ऋषियोंके मतोंकी भी रक्षा कर दी।

प्रश्न—राजा तो मनाते थे कि सबेरा न हो और कोई रामसे जाकर न कहे, तो अब रामजीको बुलानेमें अपनी मर्जी क्यों जनायी? उत्तर—वे सोचते हैं कि अब रामजी किसी न किसीसे एकाएक अवश्य समाचार पावँगे इससे अब उन्हें खबर मिल जाय यही अच्छा है, इसीसे रुख दे दिया। (पण्डितजी)

नोट—२ *'लखी कुचालि'''''* इति। मनमें अनुमान करने लगे कि कुछ कुचाल की है। भाव यह कि यह रानी तो राजाको परम प्रिय है इससे मर्म क्यों न कहते, फिर यहाँ कोई तीसरा भी न था जिसके संकोचसे राजा न कहते। इससे इसकी बातमें फरेब जान पड़ता है। (रा० प्र०) कुचाल तो बहुत बड़ी है, फिर 'कछु' क्योंकि सुमन्त्रजी सब बातोंका निर्णय न कर सके। उन्होंने अनुमान किया कि 'कुछ' है। (बै०)।

टिप्पणी—२ ***'सोच बिकल'***— राजाकी दशा देखकर सोच हो गया। रानीने कुछ कुचाल की है इसका सोच है। रामको बुलाकर क्या कहेंगे यह भी सोचते हैं।

टिप्पणी—३ ***'उर धरि धीरज'''''*** (क) व्याकुलताके मारे पैर आगे नहीं पड़ता था, इससे धैर्य धारण किया तब सामर्थ्य हुई और वे द्वारपर आये। ***'गयेउ दुआरें'***— द्वारपर जाना कहा क्योंकि सबने उनको यहींसे भेजा था और यहींपर उनके आनेकी राह देखते थे। ऐसा न होता तो रामजीके यहाँ गये ऐसा लिखते, द्वारपर जानेके उल्लेखका कोई प्रयोजन न था। (ख)—पहले मन्त्रियोंको सोच था कि अबतक राजा नहीं जगे इसका क्या कारण है। जब सुमन्त्र उदास देख पड़े तब उनको अधिक सोच हुआ; अतः ***'पूछहिं सकल'*** सबके सब पूछने लगे। (ग)—सुमन्त्रके तन-मनमें सोचके चिह्न हैं। ***'सोच बिकल मग परइ न पाऊ'*** यह तनका चिह्न है, जब वे भीतरसे निकलकर द्वारपर आकर खड़े हुए तब पैरका डगमगाना यह चिह्न बन्द हुआ इसीसे लोगोंने उसे नहीं देखा, केवल मनमारे यह चिह्न देखा। अतएव ***'मनमारे'*** ही लिखा।

टिप्पणी—४—***'समाधानु करि पुनि''''''''*** इति।-सबने मन मारे देख प्रश्न किया इसीसे सबका समाधान करना कहा। [सुमन्त्रजीने कहा कि मैं राजाकी आज्ञासे रामचन्द्रजीको लानेके लिये शीघ्रतापूर्वक जा रहा हूँ। राजाके यहाँ न आनेका कारण अभी कहता हूँ और कोई बात नहीं है। यथा—'**रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम्**।' (१६) '**राज्ञः संप्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम्**' (वाल्मी० २। १५। १८) पर वाल्मी० के सुमन्त्र बड़ी प्रसन्नताके साथ महलसे द्वारपर आये हैं और बिना पूछे उन्होंने राजाओंसे यह बात कही है। मानसके 'सुमन्त्र' 'मनमारे' देख पड़े इसीसे सब पूछने लगे। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सबके मनमें शङ्का उठ रही थी कि कहीं महाराज बीमार तो नहीं पड़ गये। सुमन्त्रजीने आकर सबका समाधान किया कि ऐसी कोई बात नहीं है, महाराजने रामजीको बुलाया है। मन्त्रीके कहनेसे सबका समाधान हो गया। सम्भव है कि अभिषेकके पहिले कुछ शिक्षा देना चाहते हों, तत्पश्चात् सुमन्त्रजी रामजीके पास गये। (ख) *'दिनकर कुल टीका'*— जैसे तिलकसे शोभा होती है वैसे ही सूर्यकुलकी शोभा रामजीसे है। *'दिनकर कुल'* अर्थात् यह कुल स्वयं ही शोभित है, सो इस कुलको भी श्रीरामजी शोभित करनेवाले हैं।

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदरु कीन्ह पिता सम लेखा॥ ६॥
निरखि बदनु कहि भूप रजाई। रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई॥ ७॥
रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'लेखा'=माना, समझा। 'रजाई'=आज्ञा। 'जहँ तहँ'=इधर-उधर, सभी जगह, जो जहाँ है तहाँ ही।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रजीको आते देखा तो पिताके समान मानकर उनका आदर-सत्कार किया॥ ६॥ श्रीरामजीके मुखको देख, राजाकी आज्ञा कह, वे रघुकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजीको लिवा ले चले॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी मन्त्रीके साथ बुरी तरहसे जा रहे हैं, यह देख लोग जहाँ-तहाँ दु:खी हो रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'आदरु कीन्ह''''*—अर्थात् जहाँसे प्रथम देख पड़े, वहीं चलकर गये और मिले। पिताके समान सम्मान किया। (वाल्मीकीयके अनुसार महलमें अपने पास बुलाया यह आदर-सम्मान किया।)

टिप्पणी—२ (क)—*'निरखि बदनु'*— रामजी सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं और *'निरखि बदन'* से सूचित किया कि सुमन्त्रजी उनको पुत्र समान मानते हैं इसीसे मुख देखना कहा। वात्सल्यरसमें मुख देखना प्रधान है, यथा—*'जननिन्ह सादर बदन निहारे।'* (१। ३५८। ८) *'सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी।'* (५२। ६) *'निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर।'* (३। ३०) इत्यादि। इस रसमें पुत्र-भाव होता है। (ख)—मुख देखकर आज्ञा सुनायी। इससे जान पड़ता है कि सुमन्त्रजी बैठे नहीं क्योंकि शीघ्र बुला लानेकी आज्ञा थी। [(ग) मुखकी चेष्टा देखकर तब आज्ञा सुनायी। (खर्रा) किसीका मत है कि मुख देखा कि यदि इनको कुछ मालूम होगा तो चेष्टासे विदित हो जायगा। यह देखकर समझ गये कि इनको नहीं मालूम है।]

नोट—*'रघुकुल दीपहि'* इति। भाव कि (१) राजाका शोकरूपी तम निवारण करने चले हैं। अत: दीपक कहा। भानु न कहा, क्योंकि सम्पूर्ण शोक दूर न करेंगे। दर्शनसे कुछ प्रसन्नता होगी। दूसरे सूर्य स्वत: उदित होते हैं और दीपक दूसरेके यत्नसे प्रकाश करता है, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी स्वत: नहीं गये, सुमन्त्रजीके लिवा जानेपर गये हैं। (पं०, रा० प्र०) (२) दीपकके चले जानेसे अँधेरा हो जाता है वैसे ही रामवनगमनसे रघुकुलमें अँधेरा छा जायगा। (३) सुमन्त्रजीने तो इतना ही अनुमान किया कि रानीने कुछ कुचाल की, पर क्या कुचाल की और उसका परिणाम क्या होगा इत्यादि सब अन्धकारमें हैं। यहाँ 'दीप' शब्द देकर सूचित किया कि जब उस भवनमें दीपकका प्रकाश पहुँचेगा तब सब कुछ प्रकाशमें आ जायगा। गीता और मानसमें ज्ञानको दीपक कहा है—**'ज्ञानदीपेन भास्वता।'** (गीता १०। ११) मानसमें ज्ञान-दीपक-प्रसंग प्रसिद्ध है। पुन: भाव कि अपने ज्ञान, वैराग्य, त्याग, पितृभक्ति इत्यादि गुणरूप प्रकाशसे श्रीरामजी रघुकुलको विशेष प्रकाशित करेंगे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—३ *'रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं'*— कुभाँति अर्थात् पैदल हैं, वेष सादा है, आभूषण-वस्त्र कुछ शृङ्गार नहीं हैं। *'बिलखाहीं'* (दु:खी होते हैं) कि आज तो इन्हें सवारीपर शृङ्गारसहित जाना चाहिये था सो पैदल जा रहे हैं कुछ अनर्थ अवश्य हुआ है। [**'वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ। स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः॥ न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः। मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः॥ न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः। अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा॥ चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः। मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः॥ न हस्ती चाग्रतः श्रीमान्सर्वलक्षणपूजितः। प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः॥ न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन। भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम्॥'** (वाल्मी० सर्ग २। २६। १२—१७) के ये वचन एवम् **'यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।'** (सर्ग २। ३३। ६) में जो कहा है वह *'कुभाँति'* का अर्थ समझिये। अर्थात् इस समय बन्दी-सूत-मागध मङ्गल वचनोंसे स्तुति करते हुए साथ नहीं हैं, वेदपारग ब्राह्मण मधु-दही आदि सिरपर नहीं दे रहे हैं, राजकर्मचारी आदि साथ नहीं हैं, चार घोड़ोंवाला रथ, हाथी, सोनेका सिंहासन लिये हुए सेवक, छत्र, चँवर आदि कुछ भी साथमें दिखायी नहीं देते हैं। श्रीनंगे परमहंसजी *'कुभाँति'* का अर्थ चिन्तित करते हुए लिखते हैं कि 'जैसे सदा पिताजीके पास प्रसन्नतासे जाते थे वैसे नहीं जा रहे हैं। चिन्ता दो बातोंकी थी। एक कि राजा नित्य चार बजे उठते थे सो आज आठ बज गया। दूसरी चिन्ता यह कि राजाको किस बातका कष्ट है जो हमको बुला रहे हैं। अत: उदास भावसे जा रहे हैं।] (ख) *'सचिव सँग जाहीं'* अर्थात् आज सवारीपर श्रीरामजी शृङ्गारयुक्त आगे चलते, पीछे-पीछे सब मंत्री

आदि चलते, ऐसा न होकर रामजी पैदल हैं और मन्त्री आगे हैं। (वसिष्ठजीने आज्ञा दी थी कि ***'राम करहु सब संजम आजू'*** अतः ब्रह्मचर्यादि संयमसे थे जो पूर्व कहे जा चुके हैं। मन्त्रीके आनेपर वे तुरत वैसे ही चल दिये। वै०)

दो०—जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥ ३९॥

शब्दार्थ—'**निपट**'=बिलकुल, अत्यन्त। '**कुसाज**'=बुरी तरह, अस्तव्यस्त।

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीने जाकर देखा कि राजा अत्यन्त अस्तव्यस्त पड़े हैं मानो सिंहिनीको देखकर कोई बुड्ढा गजराज सहमकर गिर पड़ा हो॥ ३९॥

प० प० प्र०—पहले ***'रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई।'*** कहा। दीपकका प्रकाश साधनोंपर अवलंबित रहता है पर मणिका प्रकाश स्वयम्भू होता है। मणिकी उपमा भक्तिको दी गयी है। यथा—***'रामभगति चिन्तामनि सुन्दर।'*** (७। १२०) इस तरह यहाँ 'रघुवंशमणि' कहकर जनाया कि श्रीरामके मनमें तुरंत ही पितृभक्ति छा गयी। 'नरपति' का भाव कि जो रंकको 'नरेस' और नृपतिको देश-निकाला देनेको समर्थ थे वे ही नृपाल नृपति आज सामान्य 'नरपति' हो गये हैं। जो लोग दशरथजीकी इस दुर्दशाको नहीं जानते तथा कैकेयी जिसने अज्ञानका स्वाङ्ग लिया है वे ही 'भूप' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं। पर वह कैकेयी भी भूप सङ्कटमें पड़े ऐसा नहीं कहती किंतु ***'संकट परेउ नरेसु'*** ही कहती है।

पण्डितजी—कुसाज अर्थात् साज नहीं, छत्र, पलंग, चँवर आदि कुछ नहीं, पृथ्वीपर पड़े हैं। कैकेयी हिंसक सिंहिनी है। बड़े डीलडौलवाले राजा गजराज हैं। वह उनको लेना चाहती है। रामको वन होगा तब मानो मस्तक विदीर्णकर गूदा निकाल लेगी; अभी वे पड़े हैं, उनको अभी मारा नहीं है, अब मारेगी। वृद्ध गजराजकी उपमा दी, क्योंकि युवा हो तो भागे भी, राजा वृद्ध भी हैं और प्रतिज्ञामें फँस गये हैं। यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

सूखहिं अधर जरइ* सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥ १॥
सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥ २॥

अर्थ—राजाके ओठ सूख रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है। मानो मणिरहित होनेसे सर्प दीन-दुःखी हो रहा है॥ १॥ पास ही कैकेयीको क्रोधमें भरी हुई देखा, मानो मृत्यु घड़ियाँ गिनकर (राजाको) लेगी। अर्थात् मूर्तिमान् मृत्यु ही (राजाके मरनेकी) घड़ियाँ गिन रही है (कब समय पूरा हो कि मैं प्राण हर लूँ)॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'सूखहिं अधर जरइ·····'*** इति। (क) राम-विरह अग्नि है, उसके कारण ओठ सूखते हैं और अङ्ग जलते हैं, यथा—***'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा॥'*** (५। ३१) भुअङ्ग मणिसे हीन है इसीसे उसे दीन कहते हैं। धनरहित होनेसे मनुष्य गरीब कहलाता है। सर्पका धन मणि है। (ख)—राजाने कैकेयीसे कहा था कि ***'जिअइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जिअइ दुख दीना॥'*** (३३। १) कविने राजाके इन दोनों वचनोंको चरितार्थ कर दिखाया है। ***'कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी॥'*** (३५। २) इस अर्धालीमें जलहीन मीनका दृष्टान्त घटित किया और ***'सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥'*** में मणिहीन सर्पका दृष्टान्त घटित किया।

टिप्पणी—२ ***'मानहुँ मीचु घरी गनि लेई'*** इति। (क) कैकेयी रोषमें भरी हुई समीप है मानो मृत्यु घड़ी गिनकर लेगी अर्थात् मारेगी। (मृत्यु अर्थात् यमराज जब प्राण लेने आते हैं तब रोषयुक्त होते ही हैं, वे प्राण लेकर ही जाते हैं। वैसे ही रानी क्रोधयुक्त है, रामको वन भेजकर ही सामनेसे हटेगी जिससे

* 'जरइ'—(रा० प०, राजापुर, भा० दा०) 'जरइँ'—(पं० रामगु० द्वि, वंदन पाठकजी 'जरहिं'—(ना० प्र०)।

राजाके प्राण निकल जायेंगे।) राजाने कैकेयीसे कहा था कि *'लोचन ओट बैठु मुँह गोई।'* उसने राजाका वचन न माना, समीप ही बैठी रही। 'समीप' का भाव कि मृत्यु इतनी निकट आ पहुँची है कि बस घड़ी गिनती है, कुछ घड़ियोंकी ही देर है उन्हींको गिन रही है। (ख)—'घड़ी गिनकर लेगी'—भाव कि बिना आयु पूरी हुए मृत्यु मार नहीं सकती, इसीसे घड़ियाँ गिनती है 'घड़ी' का भाव कि राजा अल्पकाल जियेंगे। यहाँ घड़ी अल्पकालका वाचक है, यथा—*'मुए मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीच।'* (दोहावली २२४)

करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ॥ ३॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूँछी मधुर बचन महतारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**करुणा**—मनका वह विकार है जिससे दूसरेका दुःख देखकर मनुष्यको दुःख हो और उसकी पीड़ाको निवारण करनेका वह तुरत उपाय करे। यथा—'**आश्रितार्त्यग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकं द्रवत्॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्। इति यद्दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणे त्वरा॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः॥**' (भ० गु० द० भा०) अर्थात् आश्रितजनोंके सङ्कटको देखकर भगवान् श्रीरामजी इस प्रकार द्रवित हो जाते हैं जैसे अग्निसे सुवर्ण द्रवित हो जाता है। उनका चित्त अत्यन्त मृदुल होनेसे आश्रितके दुःखसे पिघल जाता है, अश्रुपातादि होने लगते हैं और वे सोचने लगते हैं कि आश्रितका दुःख किस प्रकार निवारण करूँ, कब (कितनी शीघ्रतासे) करूँ—इस प्रकार उनके दुःखसे दुःखी होना और आश्रितोंके रक्षणमें त्वरा, उनके दुःखोंके चिन्तनसे विह्वल हो जाना—यही भगवान्‌का कारुण्य गुण है। यह गुण समझकर भक्त लोग निर्भय रहते हैं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका स्वभाव कोमल और करुणामय है, उन्होंने पहले-पहल वह दुःख देखा जो पूर्व कभी सुना भी न था॥ ३॥ फिर भी उन्होंने धीरज धरकर और समयका विचार करके कैकेयी मातासे मीठे वचनोंमें पूछा॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) करुणामय मृदु स्वभाव है अर्थात् यदि निर्दय और कठोर स्वभाव होता तो ऐसा दुःख सह भी सकते, पर इनका स्वभाव कोमल और करुणामय है इससे ये न सह सके जैसा कवि स्वयं ही आगे कहते हैं। यथा—*'अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥'* (४२। ५) पुनः, करुणामय और मृदु दो विशेषण देकर जनाया कि उनका स्वभाव आप कोमल है और दूसरेके लिये करुणामय है, दूसरेपर करुणा होती है—'**विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।**' *'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥'* (८५। २) ('राम' यहाँ साभिप्राय है कि जो *'राम सदा आनंदनिधानू'* हैं उन्हें दुःख देखना पड़ा। प० प० प्र०। यह माधुर्य है) (ख) *'प्रथम दीख'* अर्थात् जो कई बार दुःख देख लेता है तो लोग उसे फिर आनेपर सह लेते हैं, बहुत घबड़ाते नहीं, क्योंकि पहले भी उसे देख चुके हैं पर रामजीने ऐसा भारी दुःख तो आज ही प्रथम-प्रथम देखा है। (इससे यह भी जनाया कि जबसे श्रीरामजन्म हुआ तबसे अवधमें एवं इस कुलमें कभी कोई दुर्घटना नहीं हुई, न कोई दुःखी दीन हुआ। न आजतक कैकेयीको कभी सरोष देखा था। *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी'* थे। साधारणतया राज्योंमें राजाकी ओरसे ऐसा प्रबन्ध रहता है कि राजकुमारके सामने कोई दुर्घटनाका दृश्य न आने पावे। गौतमबुद्धका इतिहास प्रसिद्ध ही है। पर श्रीअवधमें तो श्रीरामजन्मसे कोई दुःख रह ही न गया था। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सरकारका स्वभाव करुणामय है। अतः महाराज दशरथकी आज्ञा है कि किसीका दुःख इनके कानोंमें न पड़ने पावे। यथा—*'राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवत राऊ॥'* अतः किसीका दुःख आजतक रामजीने सुन भी नहीं पाया, सो पहिले पहल इनका सामना दुःखसे आज हुआ है। अतः अधीर हो उठनेकी पूरी सम्भावना थी)। *'सुना न काऊ'* अर्थात् ऐसा दुःख कभी सुननेमें नहीं आया था, यह अत्यन्त कठोर दुःख है। कोमलता और करुणाकी अवधि ऐसा दुःख श्रीरामजीपर यकायक आ पड़ा, वे दुःखी हो गये, उनका धैर्य छूट गया।

नोट—*'तदपि धीर धरि'* से जनाया कि राजाकी यह दशा देखकर आनन्दनिधान श्रीरामजी भयभीत

हो गये, दु:खका कोई कारण देखनेमें नहीं आता फिर भी राजा ऐसे दु:खी क्यों हैं यह सोचकर वे अत्यन्त व्याकुल हो गये, जैसे पूर्णिमाको समुद्र क्षुब्ध हो जाता है, उनका मुख कुम्हला गया, वे दीन और शोकार्त हो गये। यथा—'**अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्। बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि॥ ''स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः**', (वाल्मीकि० २। १८। ७। १०) अधीर होनेका कारण यह भी था कि राजा सदा रामको देखते ही बड़े प्रसन्न होते थे पर आज उनको दु:ख हो रहा है। प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि भगवान् अपने भक्तका दु:ख देखकर अत्यन्त दु:खी हो जाते हैं, जटायुजीका दु:ख देखकर तो वे ऐसे दु:खी हो गये कि बोल भी न सके। इसी कारण दशरथजीका दु:ख देखकर अतिशय दु:खी हुए।

टिप्पणी—२ '*तदपि*' अर्थात् ऐसे भारी दु:खको देखकर धैर्य धारण करना कठिन है तो भी। '*समउ बिचारी*' अर्थात् समय विचार किया कि यह समय व्याकुल होने या घबड़ानेका नहीं है, इस समय पिताको बड़ा संकट है। हमें धीरज धरकर पिताके दु:खको दूर करना चाहिये। मातासे पूछा; क्योंकि पिता मूर्छित और बहुत व्याकुल पड़े हैं। नहीं तो उन्हींसे पूछते। मधुर वचनसे पूछा जिसमें अच्छी तरहसे कारण बता दे, दूसरे रामजी तो सदा मधुर वचन बोलते ही हैं। ('महतारी'=माता। पर यहाँ इस शब्दमें एक चमत्कार और भी है जो इसका पदच्छेद 'महत+अरि' इस तरह करनेसे प्रकट होता है। अर्थात् जो राजाकी शत्रु है उस मातासे।—खर्रा।)।

मोहि कहु मातु तात दुख कारन। करिअ जतन जेहि होइ निवारन॥ ५॥
सुनहु राम सबु कारनु एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू॥ ६॥
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना॥ ७॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू॥ ८॥

अर्थ—हे माता! पिताके दु:खका कारण मुझसे कहो (जिसमें) यत्न किया जाय जिससे वह दूर हो जाय॥ ५॥ (वह बोली) हे राम! सुनो। सब कारण यही है कि राजाका तुमपर बहुत प्रेम है॥ ६॥ उन्होंने मुझे दो वरदान देनेको कहा। मुझे जो कुछ अच्छा लगा वही मैंने माँगा॥ ७॥ उसे सुनकर राजाके हृदयमें शोच (शोक) हुआ (क्योंकि) वे तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते॥ ८॥

वि० त्रि०—'*मोहि कहु*' का भाव यह कि किसीसे नहीं कहा गया। यहाँतक कि मन्त्रीसे भी नहीं कहा गया, उसे मुझसे कह। महाराजने कहनेके लिये बुलाया, सो वह तो अति विकल मूर्छितप्राय हैं, अतः मैं तेरा पुत्र हूँ, तू मुझसे कह। मैं बुलाया गया, अवश्य यह समझकर कि दु:ख निवारण मेरे वशकी बात है, अतः '*मोहि कहु।*'

रामजी आते ही एक दृष्टिमें परिस्थितिसे परिचित हो गये। महाराजको अतिविकल और रानी कैकेयीको अति क्रुद्ध देखा। अतः समझ लिया कि रानी भलीभाँति भेदसे परिचित है, इस दु:खमें इनका हाथ है। सो कह रहे हैं कि यदि महाराज कहनेमें असमर्थ हैं, तो तू बतला कि महाराजके इस दु:खका कारण क्या है?

मुझसे कह, मैं दु:ख-निवारणका यत्न करूँगा। मैं पिताके लिये अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, अतः मुझसे कहना प्राप्त है।

रामजीने ऐसे उत्साहवर्धक वचन रानीसे कहे कि उसे विश्वास हो चला कि रामजीसे मेरा काम निकल जायगा, अतः बोली।

नोट—श्रीरामचन्द्रजीने दो बातें कहीं। एक तो दु:खका कारण पूछा और दूसरे उपाय करनेको कहा जिससे कष्ट मिटे। कैकेयीने इन दोनों बातोंका उत्तर दिया—कारण बताया और उपाय भी। उसके कथनका व्यङ्गसे यही भाव स्पष्ट निकलता है कि इसके कारण तुम्हीं हो और इसका मिटना भी तुम्हारे ही अधीन है। यथा—'**त्वमेव कारणं ह्यत्र राज्ञो दुःखोपशान्तये। किञ्चित्कार्यं त्वया राम कर्तव्यं नृपतेर्हितम्॥**' (अ० रा० २। ३। ५५) अर्थात् दु:खके कारण तुम्हीं हो। उसकी शान्तिके लिये तुम्हें उनका कुछ कार्य करना होगा।

टिप्पणी—१ ऊपर रामस्वभावके लिये दो विशेषण दिये गये—करुणामय और मृदु। अब उन्हें चरितार्थ करते हैं कि कोमल है अतः दुःखका कारण पूछा और करुणामय है, अतएव निवारणका उपाय करनेको कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'सबु कारनु एहू राजहि''''सनेहू'* इति। तात्पर्य यह कि स्नेह ही दुःखका कारण है। सब कारण अर्थात् दुःखके अनेक कारण हैं—(१) हमें वर देनेको कहा, हमने वर माँगा, जिसे सुनकर दुःख हुआ। (२) तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते, यह दुःखका कारण है। (३) अपना वचन और स्नेह नहीं छोड़ सकते, यह दुःखका कारण है। सबका कारण स्नेह है। स्नेहसे वर दिया, सुनकर दुःख हुआ सो भी स्नेहसे, तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ते सो भी स्नेहसे और वचन सुनकर संकटमें पड़े हुए हैं, यह भी स्नेहसे, यथा—*'सुत सनेह इत बचन उत''''।'*

टिप्पणी—३ *'देन कहेन्हि मोहि'* अर्थात् उन्होंने अपनी ओरसे वर देनेको कहा तब मैंने माँगा। *'मोहि सोहाना'* अर्थात् दूसरेको चाहे वह सुहाय, चाहे न सुहाय, पर हमको तो वही सुहाये। इससे सूचित हुआ कि निकम्मे और अप्रिय (बुरे) वर माँगे हैं, सो आगे स्पष्ट ही है कि *'सो सुनि भयउ भूप उर सोचू'।*

टिप्पणी—४ [(क) *'सो सुनि भयउ भूप उर सोचू'*—भाव कि उसकी सफलता तुम्हारे अधीन है, पर राजाको तुमसे कहनेमें संकोच है। यथा—'**त्वदधीनं तु तत्सर्वं वक्तुं त्वां लज्जते नृपः।**' (अ० रा० २। ३। ५७) आशय यह कि अपनी ओरसे उनके वचनको सत्य करके ही उनकी रक्षा कर सकोगे, वे कहेंगे नहीं।] (ख) *'छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू',* इससे सूचित करती है कि तुम्हारे संकोचसे वे तुमको वन जानेको नहीं कहते, इससे तुमको उचित है कि राजाके वचन सत्य करो। भाव कि तुम उनके प्रिय हो, तुमसे अप्रिय कहनेका मुँह नहीं होता, तुम्हारे डरसे वे नहीं कहते। यथा—'**त्वद्भयान्नानुभाषते॥ प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।** (वाल्मी० २। १८। २०-२१) इससे जनाया कि जो वर मैंने माँगा है उसके लिये उन्हें तुम्हारा स्नेह, शील और संकोच छोड़ना पड़ेगा, जो वे करना नहीं चाहते।

वि० त्रि०—जो मुझे अच्छा लगा वह वर माँगा। भाव यह कि राजाको अच्छा न लगा, उनके हृदयमें शोक हुआ, यथा—*'सुनि मृदु बचन भूप उर सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥'* कारण यह कि राजाको तुमपर बहुत प्रेम है। अपने ऐसे प्रेमपात्रको ऐसा वचन अपने मुखसे कैसे कहें, यह संकोच है। भाव यह कि राजा इसी उधेड़बुनमें घुले जा रहे हैं। वे तुम्हें अपने मुखसे नहीं कहेंगे, साथ-ही-साथ वचनभङ्गका भी साधारण दुःख नहीं है। इसी असमंजसमें पड़े हुए हैं। अब यदि तुम अपनी इच्छासे उस आज्ञाको उठा लो तो असमंजस मिट सकता है, जैसा कि आगेके दोहेसे स्पष्ट है, अभीतक कैकेयीने बात नहीं खोली है, उसका आभासमात्र दे रही है।

दो०—सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु॥४०॥

अर्थ—एक ओर तो पुत्रका स्नेह है और दूसरी ओर वचन—(यह समझकर असमंजससे) संकटमें पड़े हैं। (आज्ञा शिरोधार्य) कर सकते हो तो आज्ञा सिरपर धारण करो और उनके कठिन क्लेशको मिटाओ॥४०॥

टिप्पणी—१ (क) *'इत सनेहु उत बचनु'* अर्थात् न स्नेह छोड़ सकें न अपना वचन मिटा सकें। (ख) सुत स्नेहको *'इत'* कहती है और वचनको *'उत'*। आशय यह कि तुमपर स्नेह विशेष है, वचनमें सामान्य है। यदि दोनोंमें बराबर स्नेह होता तो दोनोंमें *'इत'* कहती। यथा—*'सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु बच इत बंधु संकोचू॥'* (२२७। ३) रामजीके मनमें पिताके वचन और भरतका संकोच दोनों बराबर हैं, इसीसे दोनों जगह *'इत'* कहा। पुनः, *'सुत सनेहु इत बचनु उत'''''* का भाव कि इस लोकके सुखके निमित्त तो पुत्रका प्रेम है और परलोक-साधन-हेतु वचनका पालन है। इस संकटमें पड़े हैं, अर्थात् पुत्रको छोड़ें तो यहाँ सुख न मिलेगा और सत्य छोड़ दें तो परलोक नष्ट हो जायगा। दोनों लोक कैसे बनें इस असमंजसमें

हैं। 'सपूत' हो तो आज्ञा मानकर संकट दूर करो।' (पं०) कैकेयीने कहा कि जो मुझे भाया वह मैंने माँगा। तुम्हारे संकोचसे राजा उसे कहते नहीं। वह व्यंगसे जनाती है कि राजाको भय है कि हम तो वचन हार ही गये, पर न जाने तुम उनके वचनका पालन करोगे या नहीं, इसी संकोचसे वे कहते नहीं, धर्म-संकटमें पड़े हैं (रा० प्र०, पंडितजी)। कैकेयीने अब भी बात खोली नहीं, ढकी-मुँदी ही कही जिसमें श्रीरामजी वचनबद्ध हो जायँ तब कहूँ। (ग) **'सकहु त'** इस वाक्यसे सूचित होता है कि कैकेयीको विश्वास नहीं है कि रामजी राज्य छोड़कर वनको जायँगे। (इससे सूचित करती है कि पिताका वचन चाहे अच्छा हो या बुरा, तुम्हारी उससे बुराई हो अथवा भलाई, यदि तुम उसका करना स्वीकार करो तो मैं तुमसे बता दूँगी, नहीं तो राजा तो धर्मसंकटमें ही पड़े मर जायँगे तुमसे न कहेंगे। यथा—'**यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम्। करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम्॥**' (वाल्मी० २। १८। २५) (घ) *'मेटहु कठिन कलेसु'* अर्थात् राजा अपने संकटको निवारण करनेमें असमर्थ हैं, तुम मिटाओ। कैकेयी ऐसा कहकर रामजीको धर्ममार्ग दिखाती है। पिताकी आज्ञा मानो। यह धर्म है, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* पिताका क्लेश दूर करो, यह धर्म है। इस तरह कह रही है, जिनमें धर्म समझकर वे वनको चले जायँ।]

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥ १॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥ २॥
जनु कठोरपन धरें सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू॥ ३॥

शब्दार्थ—**निधरक**=बेधड़क, निःशङ्क। **अकुलानी**=व्याकुल हुई, घबड़ा गयी। **लच्छ**=लक्ष्य, निशाना। **कठिनता**=कठोरपन।

अर्थ—कैकेयी निडर बैठी हुई कड़ुवे वचन बोल रही है, जिन्हें सुनकर (मूर्तिमान्) कठोरता भी अत्यन्त व्याकुल हो गयी। (अर्थात् उससे भी ये वचन न सुने और सहे जा सके)॥ १॥ जीभ धनुष है। वचन अनेक तीर हैं। राजा ही मानो कोमल निशानाके समान हैं॥ २॥ (ऐसा जान पड़ता है कि) मानो कठोरपन ही श्रेष्ठ वीरका शरीर धारण करके धनुर्विद्या सीख रहा है॥ ३॥

नोट—जिस प्रकार धनुर्विद्या सीखनेवाला तीर-कमान लेकर पहले मुलायम निशानोंहीपर तीर चलाकर सीखता है—बाण चलाना केलेके वृक्षको लक्ष्य बनाकर सिखाया जाता है—उसी प्रकार कैकेयी अपने तीक्ष्ण वचनोंसे राजाका हृदय बेध रही है।—(दीनजी) यहाँ अतिशयोक्ति, उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, परंपरित रूपक और अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

टिप्पणी—१ *'निधरक बैठि कहइ कटु बानी।…'* इति। (क) *'निधरक'* से जनाया कि उसको किसीका संकोच, डर, लज्जा नहीं रह गयी, वह ढीठ, निर्लज्ज, केवल स्वार्थसाधक और अनार्य हो गयी है।

यथा—'**उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः।**' (वाल्मी० २। १८। १९)'……**तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्। उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम्।**' (३१) अर्थात् विनयी और सत्यवादी श्रीरामचन्द्रजीसे निर्लज्ज, ढीठ, अनार्या कैकेयी अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर अत्यन्त कठोर वचन बोली। (ख) मन्थराने कैकेयीको एक तो कपट सिखाया था; यथा—*'रचिपचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।'* (१८) वही कपट रानीने राजासे किया, यथा—*'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥'* दूसरे, मन्थराने कठिनता भी सिखायी थी। यथा—*'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।'* उसी कठिनताको कवि यहाँ दिखा रहे हैं कि वह ऐसी कठोर हो गयी है कि उसकी वाणी सुनकर मूर्तिमान् कठिनता ही घबरा उठी। कैसी कटु वाणी है यह आगे रूपकद्वारा कहते हैं, *'जीभ कमान''* (कठिनता अकुलानी कि यह तो मुझसे भी अत्यन्त कठोर है)। (ग) कैकेयीका आगे वीरका रूपक बाँधते हैं, यथा—*'सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू।'* वीर बैठकर निशाना मारते हैं वैसे ही कैकेयी बैठी हुई निर्भय कटु वचन कह रही है। वाणीकी अत्यन्त कटुता दिखानेके लिये कठिनताको *'अति अकुलानी'* कहा।

टिप्पणी—२ *'जीभ कमान बचन सर नाना।'* इति। धनुषसे तीर निकलते हैं वैसे ही जीभसे वचन निकल रहे हैं। राजा कोमल निशाना हैं अर्थात् राजाके कोमल हृदयको कैकेयीके कटु वचन बेध रहे हैं। [जीभको कमान कहनेका यह भी भाव है कि जैसे तीर चलानेमें कमान लचकती है, वैसे ही वचन बोलनेमें जीभ भी लचकती है। (रा० प्र०) *'बचन सर'* वचनको बाण कहा है और बाण लगकर हृदयमें करक उत्पन्न करते हैं। यथा—*'बचन बिनीत मधुर रघुबरके। सर सम लगे मातु उर करके॥'* (५४। १) *'बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।'* (६। २३) *'तुलसी तेउ खल बचन सर हये गए न पराइ।'* (दो० ४०२) *'बचन बान सम लागहिं ताहीं।'* (४९। ४)] श्रीरामजीके हृदयपर इन वचनोंकी कटुताका प्रभाव नहीं पड़ता। यथा—*'रामहि मातु-बचन सब भाये। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाये॥'* (४३। ८) इसीसे राजाको निशाना कहा, इनको नहीं। (यद्यपि वचन इन्हींसे कह रही है। राजाको 'मृदु लक्ष्य' कहकर जनाया कि श्रीरामजी 'कठोर लक्ष्य' हैं, इसीसे उसके वचन-सरका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इससे श्रीरामजीका स्वभाव दिखाया कि वे परम शान्त और अक्रोधी थे, इतना ही नहीं, वे कठोर वचन कहनेवालेसे भी बड़े प्रेमसे बोला करते थे।)

टिप्पणी—३ *'जनु कठोरपन धरें सरीरू।* ·····' इति। (क)—तात्पर्य कि कठोरपनके दया नहीं होती। वैसे ही कैकेयीको राजाके क्लेशपर दया नहीं है, वह बार-बार कटु वचन बोलती है। (ख) *'धरें सरीरू'* कहनेका भाव कि आगे उसका धनुर्विद्या सीखना कहते हैं और कठोरपनके शरीर होता नहीं, तब हाथमें धनुष-बाण लेना कैसे बने? अतः उसका शरीर धारण करके धनुर्विद्या सीखना कहा गया। [कठोरपनकी ही उपमा दी; क्योंकि कोमल हृदयवाले मृदुलपर शस्त्रपात नहीं करते। (पं०, रा० प्र०)] (ग)—*'सिखइ'* का भाव कि जो नयी विद्या पढ़ी जाती है उसका अभ्यास किया जाता है। कैकेयीने अभी-अभी मन्थरासे कठोर वाणीका पाठ पढ़ा है, इसीका अभ्यास कर रही है। कठोरपन धनुर्विद्या सीखता है अर्थात् सीखनेमें बार-बार तीर चलाता है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि कैकेयीका कठोरपन ही उसके मुखसे बार-बार कटु वचन कहलवा रहा है। (घ) *'बर बीरू'* का भाव कि श्रेष्ठ वीरके सब तीर निशानेपर लगते हैं, उसका एक वार भी खाली नहीं जाता। नये सीखनेवालेके निशाने खाली भी जाते हैं, इसीसे *'बरबीर'* की उपमा दी। भाव कि यह सीखते समय भी कभी निशानेसे नहीं चूकता। वैसे ही कैकेयीका एक भी वचनरूपी बाण राजाको बिना आघात पहुँचाये नहीं रहता। कठोरपन कटु वचनोंसे सबको मारता है, यथा—*'भरदर बरषत कोस सत बचैं जे बूँद बराइ। तुलसी तेउ खल बचन सर हए गए न पराइ॥'* इति (दोहा० ४०२)

बैजनाथजी—जैसे आड़के लिये पीछे दीवार होती है और वस्त्र मढ़ी हुई तृण आदिकी टट्टी, जिसपर पुरुषाकार प्रतिमा बनी होती है, आगे रखी जाती है, जिसपर निशाना लगाया जाता है। बाण इस टट्टीको साफ छेदकर पार निकलकर दीवारमें अड़ जाता है। वैसे ही यहाँ रामजी वह दीवार हैं, जिसमें बाण जरा भी नहीं गड़ते पर राजाको बेध डालते हैं।

सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई॥ ४॥
मन मुसुकाइ भानुकुलभानू। रामु सहज आनंद निधानू॥ ५॥

अर्थ—सब प्रसङ्ग (ब्योरा, कथा) श्रीरघुनाथजीको सुनाकर बैठ गयी, मानो निष्ठुरता शरीर धरे बैठी है॥ ४॥ सूर्यवंशके (सूर्यरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेको) सूर्य तथा स्वाभाविक ही आनन्दके खजाना श्रीरामजी मनमें मुस्कुरा रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सबु प्रसंगु* ·····' इति। पहले सब ब्योरा खोलकर नहीं कहा था, यथा—*'माँगेउ जो कछु मोहि सुहावा।'* उसके मनमें थी कि ये भी अपने मुँहसे कह दें कि हम पिताकी आज्ञा सिरपर धारण करेंगे तब सब प्रसङ्ग कह सुनाऊँगी, नहीं तो ये वनको जाना स्वीकार न करेंगे। उसने कपट किया, बात न खोली, इसीसे श्रीरामजी भी चुप रहे, कुछ न बोले; उन्होंने यह भी न पूछा कि क्या आज्ञा है, जिसे शिरोधार्य करनेको कहती हो। तब कैकेयीने यह विचारकर कि हमने बात नहीं खोली, इसीसे

श्रीरामजी चुप हैं, सब प्रसङ्ग कह सुनाया। (ख) [*'सबु प्रसंगु'* अर्थात् देवासुरसंग्राममें राजाका बाण लगनेसे मूर्छित होना और उनकी रक्षा अपने द्वारा होनेपर दो वरदान देनेकी प्रतिज्ञा करना तथा राजाका रामकी शत शपथ करके सत्यकी प्रशंसा करके वर देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर वर माँगना इत्यादि सब कथा। यहाँ *'रघुपति'* शब्द भावगर्भित है। इस प्रसङ्गमें अभीतक प्राय: 'राम' शब्दका ही प्रयोग किया गया। इस स्थानपर जहाँ श्रीदशरथजी विद्यमान हैं वहीं श्रीरामजीको 'रघुपति' कहनेमें भाव यह है कि अब दशरथजी तो 'रघुपति' रहे नहीं, (वे तो वरदानद्वारा दूसरेको राज्य दे चुके) और कैकेयी भरतजीको 'रघुपति' बनाना चाहती है पर वे भी रघुपति नहीं होंगे, श्रीरामजी ही रघुपति होंगे। पुनः कुलकी कीर्तिको अलङ्कृत रखनेसे ही कुलका सच्चा पालन होता है, श्रीरामजी ही अब इस कुलकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करेंगे। अतः 'रघुपति' कहा। (प० प० प्र०)] (ग) *'मनहुँ तनु धरि निठुराई'*—भाव कि राजाको कठोरपन धारणकर वचन-बाणोंसे मारकर व्याकुल कर दिया था, अब श्रीरामजीको निष्ठुरताकी मूर्ति बनकर प्रसङ्ग सुनाया, पर इनके हृदयमें कुछ विकार न उत्पन्न हुआ। (घ) इस प्रसंगमें कैकेयीके मन, वचन और तन तीनोंकी निष्ठुरता दिखायी है। *'निधरक बैठि कहत कटु बानी'*—निर्भय होना यह मनकी निष्ठुरता है, *'सबु प्रसंग रघुपतिहि सुनाई'*—यह वचनकी निष्ठुरता है, और *'बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई'* यह तनकी निष्ठुरता है।

टिप्पणी—२ *मन मुसुकाइ भानुकुलभानू'* इति। मनमें मुसकाये क्योंकि मनमें पिताके वचनोंके पालन करनेका सुख हुआ। अथवा कैकेयीके वचनोंको सुनकर प्रसन्न हुए कि हमारे मनकी बात हुई।

नोट—१ *'मन मुसुकाइ भानुकुलभानू'* इति। (क) ☞श्रीरामजीका मुसकाना हँसना या बिहँसना जहाँ भी कहा गया है वहाँ इन तीन भावोंमेंसे कोई एक भाव होता है तो वे मायाको प्रेरित करते हैं या मायाको आकर्षित करते हैं अथवा अलौकिक प्रीति देखकर प्रसन्न होते हैं। यथा—*'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।'* (१। १९२) *'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।'* (१। २१६। ७) *'कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥'* (२। १०१। १) *'सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मनमहुँ मुसुकाने॥'* (२। १२८। १) इत्यादि। यहाँ श्रीरामजी अपनी मायाको ऐसी प्रेरणा दे रहे हैं कि जिसमें कैकेयीके विचार स्थिर रहें और दशरथजी वनगमनमें विरोध न करें। (प० प० प्र०) मुसकानेके और भाव ये कहे जाते हैं—(ख) सहज आनन्दनिधानको भी आनन्दरहित करनेकी इच्छा कर रही है। (रा० प्र०) अर्थात् समझती है कि अपना राज्याभिषेक सुनकर बड़े सुखी हुए होंगे, अब वनगमन सुनाकर इनका और इनकी माँका वह सब उल्लास मैं छीने लेती हूँ, वरदान सुनकर अब रोवें। मन्थराने कहा ही था *'सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥'* (२२। ६) अथवा (ग) सरस्वतीकी चतुराईपर हँसे। (रा० प्र०) (घ) कैकेयीकी पूर्व प्रीति आदि और इस समयकी निष्ठुरता तथा अपनी मायाका प्रभाव और भविष्य विचारकर हँसे। (वै०) वा (ङ) हँसे कि अपना भविष्य दुःख नहीं जानती कि भरतराज्यका सुख इसको न मिलेगा, कोरा कलङ्क ही हाथ लगेगा। और हमारे तो मनकी हुई, देवका कार्य होगा, भक्तोंसे मिलाप होगा और जो *'बिमल बंस यह अनुचित एकू'* था उस अनौचित्यसे कुल भी बच गया। (पं०) अथवा, (च) अब राजा कैकेयीके ऋणसे भी उऋण हो गये, उनकी वाणी सत्य-रंगमें रँग गयी। केकयराजसे जो प्रतिज्ञा की थी वह भी पूरी हो गयी। (मा० म०)

नोट—२ वि० त्रि०—यद्यपि सरकार सहज आनन्दनिधान हैं, फिर भी आनन्दातिरेकसे मुसकरा रहे हैं, यथा—*'नव गयंद रघुबीर मन राज अलान समान। छूट जानि बनगमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* वनवास सरकारको इष्ट है, पर निष्कारण सबको दुःख देकर वन जाना नहीं चाहते तो सरस्वतीकी सहायतासे यथेष्ट कारण हाथ लग रहा है इसलिये मुसकराये। प्रत्यक्ष मुसकरानेसे माता समझती कि मुझे चिढ़ा रहा है, इसलिये मन-ही-मन मुसकराये। रावणकी आज्ञा *'तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ'* पर हनुमान्‌जी भी इसी भाँति मनमें मुसकराये थे, यथा—*'बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥'* लङ्कादाह हनुमान्‌जीको इष्ट था, परंतु आततायी नहीं होना चाहते थे। सरस्वतीकी सहायतासे उस दोषसे

विनिर्मुक्त हो गये। पूँछमें आग लगनेपर बन्दरका चारों ओर दौड़ना स्वाभाविक है, उससे चाहे आग लगे, चाहे कोई मरे। बन्दर दोषी नहीं। मनमें इसलिये मुसकराये कि प्रत्यक्ष मुसकरानेसे राक्षसोंको सन्देह होता, सम्भव था कि वे सावधान हो जाते। अतः मनमें मुसकरानेका गूढ़ कारण होना ही चाहिये।

टिप्पणी—३ *'भानुकुलभानू'* इति।—भाव कि ये भानुकुलकी रीतिका पालन करते हैं। सत्य और पिताकी कीर्त्तिमें प्रीति, यह कुलकी रीति है, यथा—*'जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* (३०५। १) *'सहज आनंद निधानू'* कहा, क्योंकि प्रसङ्ग सुनकर दुःख न हुआ। जो आनन्द किसी कारणसे होता है वह नाशको प्राप्त हो जाता है। जो स्वाभाविक है उसका नाश नहीं होता। श्रीरामजीका आनन्द स्वाभाविक है, अतएव कैकेयीके वचन सुनकर वह नाशको न प्राप्त हुआ। यथा—पूर्व श्रीरामजीको कुलके टीका, दीपक और मणि कह आये, यथा—*'गएउ जहाँ दिनकर कुल-टीका।'* (३९। ५) *'रघुकुल-दीपहि चलेउ लेवाई।'* (३९। ७) और *'जाइ दीख रघुबंसमनि'''।'* अब यहाँ 'भानु-कुलभानु' कहा। ये विशेषण साभिप्राय हैं। श्रीरामचन्द्रजी धर्म करनेको बाहर निकले हैं, जैसे-जैसे आगे चले, तैसे-तैसे बड़ाईके विशेषण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लिखते आये। देखिये, जब वे घरमें रहे तब *'दिनकर कुल-टीका'* कहा अर्थात् सूर्यकुलके शोभित करनेवाले हैं। जब घरसे बाहर चले तब दीपक कहा, जब राजाके पास पहुँचे तब 'रघुवंशमणि' कहा और अब यहाँ जब माता-पिताकी आज्ञा अङ्गीकार करनेको हैं तब *'भानुकुलभानू'* विशेषण दिया। टीकासे दीपक अधिक, दीपकसे मणि अधिक और मणिसे भानु। दीपक और मणिसे घर और कुलहीमें प्रकाश होता, सूर्य ब्रह्माण्डभरका प्रकाशक है। सूर्यके निकलनेसे ब्रह्माण्डको सुख होता है, इसी तरह इनके बाहर (वनको) निकलनेसे ब्रह्माण्डभरको सुख होगा। (*'भानुकुलभानू'* से यह भी सूचित किया कि ये राज्यके मोहजालमें नहीं फँसेंगे और न पिताको *'ममता तरुन तमी अँधियारी'* में गिरने देंगे। (प० प० प्र०)

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥ ६॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥ ७॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**दूषन**=दोष। **तोषनिहारा**=संतुष्ट करनेवाला। **बाग बिभूषन**=सरस्वतीको विशेष शोभित करनेवाले गहने, सरस्वतीके शृङ्गाररूप।

अर्थ—श्रीरामजी सब दूषणोंसे रहित निर्मल वचन बोले, जो ऐसे कोमल, मीठे और सुन्दर हैं, मानो वाणीके विशेष भूषण अर्थात् सौभाग्यतिलक ही हैं॥ ६॥ माता! सुनो वही पुत्र बड़ा भाग्यवान् है जो पिता-माताके वचनोंमें प्रेम रखता हो॥ ७॥ माता-पिताको संतुष्ट करनेवाला पुत्र, हे माता! सारे संसारमें मिलना कठिन है॥ ८॥

१ पुरुषोत्तम पं० रामकुमारजी—*'बोले बचन बिगत सब दूषन।'''''* इति। ऐसे वचन बोले जो वाणी सरस्वतीको भी शोभित करें। तात्पर्य कि सब दूषणरहित कोमल और सुन्दर वचनोंसे वाणीकी शोभा होती है। कैकेयीके वचनोंसे इनके हृदयमें सुख हुआ, इसीसे वाणीमें दोष न आया। यदि हृदयमें दुःख हुआ होता तो वचनोंमें दूषण आ जाता, जो माता-पिताके वचन न मानते तो दूषण आता। सुननेमें मृदु हैं और अर्थ समझनेमें सुन्दर हैं। सरस्वती वाणीद्वारा दूसरोंको शोभित करती है और श्रीरामजीके वचन तो सरस्वतीहीको शोभित करते हैं अर्थात् इनसे सरस्वतीकी प्रशंसा होती है।

२ मानसमयंक—भाव यह है कि कैकेयीके वाणीका विभूषण श्रीरामचन्द्रजीका वचन है, क्योंकि शारदप्रेरित कैकेयीने कटु-कठोर कपटपूर्ण वचन कहकर वर माँगा कि रामचन्द्र वन जायँ। उस वचनको श्रीरामचन्द्रजीने शीशपर धारणकर पूरा किया और राजाके वचनको प्रमाण किया। यही स्वीकार रामवाणीका सार मर्म है। ध्वनि यह कि शारदाने जो दूषित वाणी कैकेयीसे कहलायी उसका विभूषण श्रीरामचन्द्रका वचन है। सन्दर्भ यह कि रामवाणी शारदाका शृङ्गार है।

३ पंजाबीजी—*'बाग बिभूषन'* अर्थात् जो कोई इन्हें धारण करे उसके मनको ये विभूषित करेंगे और जो इनके अनुसार चलेंगे उनकी वाणी सुशोभित होगी।

४ रा० प्र०—भाव यह कि सरस्वती जो कपट करके बोल रही है उसको ये सँवार रहे हैं।

५ प्रोफे० गौड़जी—कैकेयीने वह वाग्बाण छोड़े थे जिन्हें सुनकर कठिनता भी अकुला गयी थी। सब बातें बेधड़क कहकर जब निष्ठुर कैकेयी चुप हुई तब श्रीरघुनाथजी बोले। उसी कटुवाणीके मुकाबलेमें कोई और पुत्र होता तो सहन करनेमें असमर्थ होकर क्रुद्ध हो जाता। राजके बदले वनवासका संवाद सुनकर दुःखका वारापार न रहता और कठोर वचनोंसे आहत हो वह भी तुर्की-बतुर्की जवाब देता। परंतु राम तो सूर्यकुलके सूर्य हैं, आनन्दसिंधु सुखराशि हैं। यहाँ स्वाभाविक आनन्द लहरें मार रहा है। उसके अन्दर दुःख कहाँ? कैकेयी उनको दुखाना चाहती है पर दुखा नहीं सकती; क्योंकि वे सब दूषणोंसे विगत हैं। इसीलिये जो वचन वे बोले उनमें कठोरता नहीं है, कोमलता है। नैष्ठुर्यकी कुरूपता नहीं है, माधुर्यकी मञ्जुलता है। हिंसा करनेवाला वचन-शर नहीं है, प्रत्युत श्रवणाभिराम वचनका विभूषण है। इस चौपाईमें कैकेयीके कटुवचनके चित्रसे भगवान्‌के मृदुमञ्जुल वाग्विभूषणका मुकाबला किया है।

६ श्रीमंत यादवशङ्कर जामदारजी—गोस्वामीजीने रामजीसे बिलकुल ही व्यावहारिक परन्तु पूर्णशिक्षा-प्रचुर भाषण करवाया है। यह भाषण उनके कथनानुसार सचमुच ही 'वाग्विभूषण' (वाग्देवीका सौभाग्यतिलक) ही हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि जिस साहित्यमें ऐसे उदात्त, तात्त्विक और प्रेममय भाषण नहीं वह यथार्थमें सौभाग्यहीन ही है।

टिप्पणी—१ *'सुनु जननी……'* इति। [(क) *'जननी'* शब्दसे सूचित किया कि श्रीरामजी श्रीकौसल्या और कैकेयीको समान मानते थे। (प० प० प्र०) इतना ही नहीं अपनी मातासे इनको विशेष मानते थे। यथा—*'कहैं मोहि मैया कहौं मैं न मैया भरत की, बलैया लैहौं, भैया! तेरी मैया कैकेई है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी……।'* (क० २। ३)] (ख) *'बड़ भागी'* से भाग्यवान् और बड़ा भाग्यवान् दोका होना सूचित होता है। धर्म करनेवाला पुरुष भाग्यवान् है और श्रेष्ठ धर्मका पालन करनेवाला बड़भागी है। पिताकी आज्ञाका पालन सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* (५५। ८) पुनः, जो पुत्र पिताकी आज्ञा प्राप्तकर उसका पालन करते हैं वे बड़भागी हैं और जो पुत्र पितासे अन्य पदार्थ पाते हैं, वे *'भागी'* (भाग्यवान्) हैं। (अथवा, जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही अर्थात् उनके मुखसे न कहनेपर भी उनका अभीष्ट कार्य करता है वह बड़भागी है, अर्थात् उत्तम है और जो पिताके कहनेपर करे वह मध्यम है अर्थात् केवल भाग्यवान् है। यथा—**'अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः।'**, **'उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।'** (अ० रा० २। ३। ६०-६१) भाव कि आप मुझसे कहें, मैं उसे अवश्य करूँगा।) (ग) *'जो……बचन अनुरागी'* इति। वचनमें अनुराग है अर्थात् जो अभिलाषी रहता है कि मुझको कुछ आज्ञा हो। *'सोई'* अर्थात् वही, दूसरा नहीं। इससे (वाल्मी० के **'अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।'** (२। १८। २८) **'भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।'** अर्थात् पिताकी आज्ञासे मैं अग्निमें कूद सकता हूँ, हालाहल विषको भी खा सकता हूँ तथा समुद्रमें भी गिर सकता हूँ—ये भाव भी जना दिये।)

टिप्पणी—२ *'तनय मातु पितु तोषनिहारा।……'* इति। ऊपर बड़भागी पुत्रका लक्षण कहा कि माता-पिताके वचनमें अनुराग करनेसे पुत्र बड़भागी होता है। और यहाँ बताते हैं कि माता-पिताको (अपने आचरणसे) संतुष्ट करनेवाला पुत्र सारे संसारमें मिलना दुर्लभ है, यदि ऐसा दुर्लभ पुत्र किसीके हो तो उन माता-पिताको परम बड़भागी समझना चाहिये। अर्थात् ऐसे पुत्रकी प्राप्तिसे माता-पिता बड़भागी होते हैं। यहाँ परस्पर अन्योन्य भाग्य-वर्णन किया। *'सकल संसारा'* अर्थात् देश, ग्राम, जिला, प्रान्त आदिकी कौन कहे संसारभरमें दुर्लभ है।

नोट—*'जो पितु मातु……'* में *'पितु'* को प्रथम कहा; क्योंकि प्रस्तुत प्रसङ्गमें वचन पिताका ही है,

जिसका पालन करके उनमें अनुराग दिखाया है और '*तनय मातु पितु तोषनिहारा*' में '*मातु*' को प्रथम कहा; क्योंकि वन जानेसे कैकेयी ही संतुष्ट होगी और कोई नहीं, पिता तो कभी भी नहीं चाहते कि हमारे इस वचनका श्रीरामजी पालन करें, उनको तो इससे दुःख ही होगा। कैकेयी भी सुख देनेके सम्बन्धमें अपना ही नाम प्रथम लेती है, यथा—'*जननी जनक बंधु सुत दारा।*' पंजाबीजी लिखते हैं कि रानी आज्ञा देनेमें मुख्य राजाको ही रखती है, स्वयं निर्दोष बनती है, यथा—'*सुत सनेह इत बचन उत""सकहु त आयसु धरहु सिर।*' (४०) अतः उसकी प्रसन्नताके लिये प्रभुने भी सरलतापूर्वक पिताको प्रथम कहा।

दो०—मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ ४१॥

अर्थ—हे माता! वनमें विशेषरूपसे मुनिलोगोंसे भेंट होगी, जिसमें मेरा सभी प्रकार भला है। उसपर भी पिताकी आज्ञा और फिर आप (माता) की सम्मति है (यह तो सर्वश्रेष्ठ है। इस आज्ञाका तो अवश्य ही पालन करना मेरा कर्तव्य है।)॥ ४१॥

नोट—१ '*मुनिगन""भरत प्रानप्रिय""*' इति। वह बात श्रीरामजीने श्रीवाल्मीकिजीसे कही है। यथा—'*तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ॥*' (१२५) इससे सिद्ध होता है कि श्रीरामजीके ये वचन केवल कैकेयीको प्रसन्न करनेके लिये नहीं हैं। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) मुनिगन मिलन विशेष है अर्थात् मुनियोंका मिलना तो यहाँ भी है कि वामदेव, वसिष्ठादि मुनि यहाँ बहुत हैं पर वनमें विशेष हैं और उनका विशेष संग भी होगा, अर्थात् वहाँ तो दिन-रात उन्हींका सङ्ग रहेगा। [(ख) '*सबहि भाँति हित मोर*' क्योंकि '*बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू*' (यह आगे स्वयं कह रहे हैं)। मुनिगणसे संतगण अभिप्रेत है। सुमति, कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य, भलाई सबकी प्राप्ति संतोंके संगसे कही गयी है। यथा—'*मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ लोकहु बेद न आन उपाऊ॥*' (१। ३। ५-६) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि शबरी और जटायु—ये वात्सल्यरसके उपासक मुझपर वात्सल्य रखनेवाले, निषादराज, सुग्रीव और विभीषण ये सख्य-भाववाले और हनुमदादि सब वानर वीर दास्यरसके उपासक—ये सब वनमें ही हमें मिलेंगे। ये सब भाँतिके हमारे हित हैं जो वनमें ही मिलेंगे। पुनः '*बिसेषि बन""मोर*' से यह भी जना दिया कि इसीलिये तो हमारा आविर्भाव हुआ है। (रा० प्र०) विशेष आगेकी चौपाईमें देखिये। (ग)—अ० रा० में श्रीरामजीने पिताजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—'**राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन् वने सतः।**' '**त्वत्सत्यपालनं देवकार्यं चापि भविष्यति। कैकेय्याश्च प्रियो राजन् वनवासो महागुणः।**' (२। ३। ७४-७५) अर्थात् वनमें रहनेसे तो मुझे राज्यसे भी करोड़ों गुणा सुख होगा। इसमें आपके सत्यकी रक्षा होगी, देवकार्य होगा और कैकेयीका भी प्रिय होगा। राजन्! वनवासमें महान् गुण हैं। ये सब भाव '*सबहि भाँति हित मोर*' में आ जाते हैं] (घ)—'*तेहि महँ*' अर्थात् उससे भी बढ़कर बात यह है कि उसमें '*पितु आयसु*' पिताकी आज्ञा है, यह अधिक श्रेष्ठता है। '*बहुरि*' अर्थात् उसके भी ऊपर, उससे भी श्रेष्ठ। आशय यह कि मुनियोंसे बड़े पिता, पितासे बड़ी माता। प्रमाण, यथा—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**' (मनुस्मृति) तात्पर्य कि मुनियोंके दर्शनसे और पिताकी एवं तुम्हारी आज्ञा माननेसे मेरा उत्तरोत्तर अधिक हित है।

नोट—२ यहाँ बैजनाथजी 'मुद' अलङ्कार मानते हैं, यथा—'*क्रम ते मुदकी शृंखला लाभ होइ मुद जानि।*' उनके मतसे यहाँ क्रमसे लाभ कहते हैं। और वीरकविका मत है कि वन जानेके लिये मुनियोंका मिलाप एक ही कारण पर्याप्त है, उसपर पिताकी आज्ञा आदि अन्य प्रबल हेतुओंका कथन 'द्वितीय समुच्चय अलङ्कार' है।

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥ १॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥ २॥

अर्थ—प्राणप्रिय भरत राज्य पावेंगे विधाता आज सब प्रकार मुझे सम्मुख (मेरे अनुकूल) हैं॥ १॥ जो ऐसे भी लाभके लिये मैं वनको न जाऊँ तो मुझे मूढ़ोंके समाजमें सबसे प्रथम मेरी गणना करना चाहिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक श्रीरामजीने चार बातें कहीं। मुनिगण-मिलन, पितु-आयसु, जननीका सम्मत और भरतको राज्यकी प्राप्ति। इन चार बातोंसे सूचित किया कि इस आज्ञाके पालनसे हमें चारों पदार्थ मोक्ष, धर्म, काम और अर्थ प्राप्त होंगे। (वन्दन पाठकजी) *'मुनिगन मिलनु·····'* से मोक्षकी प्राप्ति है, क्योंकि *'सतसंगति संसृति कर अंता', 'बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥'* (७। ३३। ८) *'पितु आयसु'* से धर्मकी प्राप्ति होगी, क्योंकि *'पितु आयसु सब धरमक टीका'* है। *'संमत जननी तोर'* से कामकी प्राप्ति होगी, क्योंकि कैकेयीके ही सम्मतसे भरतको राज्य और मुझको वनवासकी आज्ञा हुई, यह दोनों मेरी इच्छाकी बातें हैं। *'बिमल बंस'* अनौचित्यसे बचेगा, देवकार्य सिद्ध होगा। *'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'* से अर्थकी सिद्धि कही। अर्थके सिद्धिसे सुख होता है, हमारे प्राणरूप भरतको सुख होगा। पुनः, इसका आशय यह भी है कि भरतजी चौदह वर्ष हमारी ही ओरसे राज्य करेंगे, वनसे लौटनेपर राज्यका कोष और सम्पत्ति बहुत बढ़ी हुई मिलेगी, वानरराज, राक्षसराज आदि सभी अधीन हो जायेंगे, इत्यादि सब अर्थकी सिद्धि है। (ख)—*'प्रानप्रिय'* का भाव कि लोग प्राणोंके सुखके लिये यत्न करते हैं, सो बिना मेरे यत्नके ही हमारे प्राणरूप भरतको राज्य मिल गया, इससे हमको बड़ा सुख है। भरतजी प्राणप्रिय हैं—*'भरतसरिस प्रिय को जगमाहीं।'* (७। ७) देखिये वाल्मी० २। २६ में श्रीरामजीने श्रीसीताजीसे कहा है कि भरत और शत्रुघ्न दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, यथा—**'भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम।'** (३३) (ग) *'बिधि सब बिधि मोहि सनमुख'*= ब्रह्मा सब विधि सम्मुख हुए अर्थात् बस, अब इस लाभसे बढ़कर हमें और कुछ न चाहिये। पुनः भाव कि संसारमें तो लोग एक ही ऐसे लाभसे अपनेको भाग्यवान् और सुखी मानते हैं और हमें तो अनेकों लाभ प्राप्त होंगे तब मेरे समान भाग्यवान् कौन होगा? अतः विधिका सब प्रकार सम्मुख होना कहा। (रा० प्र०) (घ) *'आजू'* अर्थात् आपके मुखसे आज इसी समय चारों बातोंको सुना है। नहीं तो हम तो पूर्व पछताते थे कि *'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'* (वन्दन पाठकजी—यहाँ अपने सगुनका फल कहा।)

टिप्पणी—२ *'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा···'* इति।—वनगमनमें चार गुण दिखा आये। अब वन न जानेके दोष दिखाते हैं कि जो वन न जाऊँ तो मूढ़-समाजमें गिना जाऊँ। समाज अर्थात् सौ, दो सौ, हजार, पाँच सौकी मंडलीमें मैं सबसे अधिक मूढ़ समझा जाऊँ। मूढ़-समाजमें जिसकी प्रथम गणना हो वह मूढ़तम या अतिशय मूढ़ कहा जाता है। आगे मूढ़का स्वरूप कहते हैं, *'सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी।···'*, *'काजा'*=कारणोंसे (काममें), [मूर्ख १७ प्रकारके विश्रामसागरमें बाबा रघुनाथदासजीने गिनाये हैं—(दीनजी)। दो असम वाक्योंकी समतामें यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है। (वीर)]

वि० त्रि०—*'जौं न जाउँ बन·······समाजा'* इति। एक तो वन जाना ही बड़े आनन्दका विषय है, वहाँ जानेसे मेरा सभी प्रकारसे कल्याण होगा। दिन-रात मुनियोंका सत्संग रहेगा और *'मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहि जतन जहाँ जब पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* अतः वन जाना तो बड़े मङ्गलकी बात है। मुझे तो पिताके दुःख-निवारणके लिये घोर संकट स्वीकार था। प्रश्न उठता है कि 'तब आप बस्तीमें क्यों हैं, जंगलमें ही क्यों नहीं चले गये?' तो इसका उत्तर है कि पिता-माताके अनुरोधसे, यथा—*'नवगयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जानि बन गमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* सो अब तो पिता-माताके आज्ञापालनके लिये वन जाना है। कष्ट सहकर संसार आज्ञा पालन करता है। मैं पिता-माताकी आज्ञा भी पालन करूँगा और साथ-ही-साथ निरतिशय

सुखका उपभोग भी करूँगा। यदि कहिये कि तब राज्य तो न मिलेगा। इसका उत्तर यह है कि अपने प्रिय बन्धुओंके सुखके लिये ही लोग राज्यकी कामना करते हैं, यथा—**'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।'** सो प्राणप्रिय भरतको राज्य मिलेगा, इस सुखसे क्या अपनेको राज्य मिलना अधिक सुखद है? सो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आज मुझे सभी सुलभ हैं, इसलिये कहते हैं कि ब्रह्मदेव आज सब विधि सम्मुख हो गये। सम्मुख तो पहिले भी थे, परंतु सब विधिसे नहीं।

ऐसा अवसर जीवनमें बहुत कम आता है, इस अवसरको मैं कदापि न चूकूँगा, अवसरकी चूक मूढ़ता है, सो ऐसा अवसर मूढ़ भी नहीं चूकता। यदि मैं वन नहीं गया तो मेरी गिनती प्रथम मूढ़समाजमें होगी।

सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिषु माँगी॥ ३॥
तेउ न पाइ अस* समउ चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**'अरँडु'** (एरण्ड)=रेंड़।

अर्थ—जो कल्पवृक्षको छोड़कर रेंड़को सेते हैं और अमृतको छोड़कर विषको माँग लेते हैं॥ ३॥ वे भी ऐसा मौका पाकर नहीं चूकते। हे माता! मनमें इसे विचार देखो॥ ४॥

'सेवहिं अरँडु·······' इति।

१—पुरुषोत्तम रामकुमार—तात्पर्य कि उन मूर्खोंको न तो कल्पवृक्ष और अमृतके गुण ही समझ पड़े और न एरण्ड और विषके अवगुण ही। कल्पवृक्ष मिलता था, उसे न लिया, उसका त्याग किया। और विष न मिला था सो उसे माँगकर पी लिया। सिद्धान्त यह कि जिनको हानि-लाभ नहीं सूझता, मरना-जीना नहीं सूझता, जो ऐसे मूढ़ हैं। प्रथम जो कहा कि ***'प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा'*** उसका अब हेतु कहते हैं कि ऐसे मूढ़ भी समय पाकर कभी नहीं चूकते तब यदि मैं चूक जाऊँ तो समझना चाहिये कि मैं इनसे भी अधिक मूढ़ हूँ। इस हेतुसे मूढ़समाजमें मेरी प्रथम गिनती होगी, जो मैं इस अवसरको हाथसे जाने दूँ।

२—पंडितजी—(क) कल्पवृक्ष सकल कामनाओंका देनेवाला है, उसको छोड़ रेंड़को सेवें तो क्या फल मिलेगा, रेंड़का फल कितने दामका ? अमृत अमरपददाता है, उसे छोड़ विष माँगकर लेते हैं जो शीघ्र मृत्यु करे। ऐसे मूर्ख कि जिन्हें एकका गुण न देख पड़ा और न दूसरेका अवगुण, वे भी अवसरपर नहीं चूकते तो हम कैसे चूकेंगे। (ख) ***'देखु बिचारि·····'***—रेंड़ प्रवृत्तिमार्ग है। उसका फल विष अर्थात् विषय है। यह फल बहुत थोड़ा है, यथा—***'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।'*** (७। ४४। १) **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'** (गीता)। और कल्पतरु निवृत्तिपथ है, जिसका फल अमृतरूप भगवत्-भागवतधर्म है। इसको छोड़कर रेंड़रूपी विषयको सेते हैं, जिससे अनेकों जन्म खराब हों। ऐसे लोग भी ऐसा समय पाकर कि थोड़ेहीमें सब बना जाता है, नहीं चूकते, पिताके वचनका पालन करते हैं। इससे आगे (अधिक) करना ही क्या है जो और करेगा? निवृत्तिपथ सुगम ही मिला, जिसके आगे प्रवृत्तिमार्ग छोटा है।

३-(क) पं० विजयानन्द त्रिपाठी—समयपर चूक जाना ही मूढ़ता है। कर्म त्याग-ग्रहणात्मक होता है। सो जिसने त्यागके समय कल्पवृक्षको त्यागकर रेंड़का सेवन किया, ग्रहणके समय माँगकर विष लिया और अमृतको छोड़ दिया, वह सबसे बड़ा मूढ़ है। उस कर्ममूढ़को त्याग-ग्रहणका विचार ही नहीं है, पर जो समय मेरे हाथ लगा है, उसे वह भी न चूकेगा, ऐसे अवसरको मैं कैसे चूक सकता हूँ। मुनिजनमिलन-जनित सत्सङ्गके सुखको कल्पवृक्ष कैसे दे सकता है? माता-पिताकी आज्ञा माननेका जो सुख है वह कल्पवृक्ष कैसे देगा? प्राणप्रियको राज्य मिले और रघुकुल-रीति न टूटे, यह कल्पवृक्षका किया कैसे होगा? अतः आपका वरदान मेरे लिये तो कल्पवृक्षसे कहीं अधिक है, इसके सामने युवराजपद एरण्ड है—***'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥'*** सो आपके वरदानद्वारा विषयसे पिण्ड छूटा, और

* 'तेऊ पाइ न समउ'—(पं० रा० गु० द्वि०)।

मुनिव्रतरूपी अमृतकी प्राप्ति हुई। अतः मेरे लिये तो ऐसा सुअवसर है कि मैं इसे चूक नहीं सकता। मुझे सहर्ष स्वीकार है। माता मनमें विचारकर देखो कि मेरे वचनमें कितना सार है। तुमने विचार नहीं किया। इसीलिये सन्देहयुक्त वचन कहती हो कि *'सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेस।'*

३ (ख)—दीनजी—अर्थात् जो भली वस्तुएँ परित्यागकर बुरीका संग्रह करते हैं वे भी।

४—पंजाबीजी—*'अस समउ'* अर्थात् निर्मल लाभ पाकर मूढ़ नहीं त्यागते तो मैं शरीरमें बल रहते परमधर्मकी प्राप्तिको क्यों त्यागने लगा।

५—'शिला'—एरंडतरु संसारमें होता है। उसका फूल-फल ऊपर होता है, फलमें रसरूप तेल होता है जो अशुद्ध है, देवमन्दिरमें नहीं जलता। राज्यपद रेंड़के समान है, जिसमें अनेक राजाओंको जीतनेका कर्तव्य-विचार ही फूल है, विजय फल है, प्रजासे कर लेकर भोग करना ही रसपान है, जिसे पीकर उन्मत्त हो कितने ही राजा ईश्वर-विमुख हो गये, जैसे जरासंध इत्यादि। वनमें मुनिगण-मिलन कल्पतरु सब फलों (मनोरथों) का दाता है, भगवत्कथाश्रवण अमृत है जो भवरोगनाशिनी ईश्वरसम्मुखतारूपी अमृतपदकी देनेवाली है। घरकी अनेकों विषयसम्बन्धी वार्ताएँ विष हैं, जिससे ईश्वर-विमुखतारूपी मरण होता है।

६—वीरकवि—यहाँ रामचन्द्रके इस कथनका मुख्य प्रयोजन यह है कि मुझे अवश्य वन जाना चाहिये और जाऊँगा। परंतु ऐसा न कहकर वे कहते हैं कि ऐसा मौका पाकर इस प्रकारके मूर्ख भी न चूकेंगे। वन जानेकी स्वीकृति कारण है। कार्यके बहाने कारणका कथन 'अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार' है।

नोट—१ *'देखु बिचारि'* इति। कैकेयी सन्देहयुक्त वचन बोली थी कि जो पिताकी आज्ञा सिरपर धर सको तो धरो। इसीके उत्तरमें श्रीरामजी कहते हैं कि 'हे माता! तुम मनमें विचार देखो कि जब समय पाकर ऐसे मूढ़ नहीं चूकते तो हम क्यों चूकेंगे? मैं अवश्य वन जाऊँगा।

अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥५॥
थोरिहि बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥६॥
राउ धीरु गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥७॥
जातें* मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ॥८॥

शब्दार्थ—'उदधि'=समुद्र, सिन्धु। 'गुन-उदधि-अगाधू'=गुणोंके अथाह समुद्र, अत्यन्त गुणी।

अर्थ—हे माता! राजाको अत्यन्त व्याकुल देखकर मुझे एक बड़ा दुःख हो रहा है॥५॥ एक जरा-सी ही बातके लिये पिताको इतना भारी दुःख हो इस बातका विश्वास, हे माता! मुझे नहीं होता (अर्थात् उनके दुःखका कारण कुछ और अवश्य है, केवल वनवास ही नहीं)॥६॥ राजा बड़े धीर और गुणोंके अथाह समुद्र हैं। मुझसे (अवश्य) कोई बड़ा अपराध हो गया है॥७॥ जिससे राजा मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें मेरी सौगंद है, सच-सच कहो॥८॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक दुखु मोहि बिसेषी'* अर्थात् वन जानेमें हमें दुःख नहीं है, भरतके राज्य पानेका दुःख नहीं है। राजा अत्यन्त व्याकुल हैं इसीका हमको विशेष दुःख है। [भाव कि आपका माँगा हुआ वरदान तो सर्वथा मेरे लिये सुखकारी है। उसमें मेरे लिये दुःखकी कोई बात नहीं है। बलवान् दुःख तो मुझे दूसरा हो रहा है। नरनाथको निपट विकल देखकर किसे दुःख न होगा, पर मुझे विशेष दुःख है; क्योंकि उसका कारण मैं ही मालूम होता हूँ। वरदान कारण हो नहीं सकता; क्योंकि उससे अपने ही हितके लिये थोड़े दिनोंतक विछोह रहेगा, पर ऐसा अवसर तो पहले भी मखरक्षण-प्रसङ्गमें आ चुका है, उस समय तो ऐसी विकलता नहीं थी। इतनी छोटी बातके लिये इतनी विकलता हो नहीं सकती। तू माता है, इस बातको समझ सकती है। माताको पितासे कम ममता नहीं होती। (पं० विजयानन्द त्रिपाठी)]

* यह पाठ राजापुर, काशिराज, पं० रामगु० द्वि०, भागवतदास इत्यादिका है। ना० प्र० में 'ताते' पाठ है।

(ख) *'थोरिहि बात'*—रामचन्द्रजीने वन-गमनसे अपना बड़ा लाभ बताया है, यथा—*'मुनिगन मिलन'''* इत्यादि। इसीसे वे उसको थोड़ी (तुच्छ बात) बताते हैं। *'निपट बिकल'* कहकर फिर भारी दु:ख कहा, अर्थात् निपट विकलका अर्थ स्पष्ट किया कि भारी दु:ख है। (पंजाबीजी लिखते हैं कि 'थोड़ी बात' का भाव यह है कि हमारे पिताके चार पुत्र हैं। उनमेंसे एक यदि विदेश (वन) जाय तो क्या? उसपर भी जब वह जानेमें प्रसन्न है तब तो, कुछ भी बात न रह गयी। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि सत्य रखनेके लिये तो लोगोंने अनेक संकट सहे हैं, उसके आगे पुत्रादि तृणके समान हैं, अतएव सत्य रखनेके लिये हमारे वन जानेका सोच क्या करना? थोड़े ही दिनका तो वियोग है। देखो हरिश्चन्द्रादि हमारे पूर्वजोंने सबकी रक्षाके लिये स्त्री-पुत्र, धन-धाम सर्वस्वका त्याग करके भी दु:ख न माना और मुझे तो केवल चौदह वर्षका वनवास मात्र है, इतने ही दिनके त्यागमें तो भारी दु:ख न होना चाहिये।) (वै०)

नोट—१ *'राउ धीरु गुन उदधि अगाधू।'''' '* इति।—*'धीरु'* कहनेका भाव कि—(क) समुद्र उछलता है, शब्द करता है, राजा गुणोंके समुद्र हैं पर वे अपने गुणोंको जानते नहीं, ऐसे धीर हैं (पं० रा० कु०)। (ख)—राजा धीर हैं तो मेरे त्यागनेमें वे अधीर कैसे होंगे? गुणके अथाह समुद्र हैं तो असत्यजनित अवगुण (दोष) कैसे धारण करेंगे। अतएव तुम्हारे उत्तरमें मुझे प्रतीति नहीं होती। (वै०, रा० प्र०) मुझसे कोई बड़ा अपराध हुआ है अर्थात् हमने जानकर कोई अपराध नहीं किया।

नोट—२ *'जातें मोहि न''''* इति।—अर्थात् उस अपराधके कारण मुझसे कुछ नहीं कहते। तात्पर्य यह कि धीर और गुण सिन्धु हैं, इससे अपराध नहीं कहते, यथा—*'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥'* (१। ५८। २) मुझसे नहीं कहते पर तुमसे अवश्य कहा होगा; अत: तुम मुझसे 'सतिभाव' से कहो अर्थात् दुराव न करो, सत्य-सत्य कह दो। (पं० रा० कु०) पुन:, मुझसे कोई बड़ा अपराध हुआ, इसीसे वे मुझसे नहीं बोलते, न अपना हाल कहते हैं, उस अपराधके कारण दु:सह दु:ख सह रहे हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'राउ धीर' 'सतिभाउ'* इति। महाराज धीर हैं। विकारके कारणकी उपस्थितिपर भी चित्तमें विकार न होना 'धीरता' है। मेरे सामान्य अपराधसे ऐसी धैर्यच्युति नहीं हो सकती। महाराज अगाधगुण-उदधि हैं, इसलिये मेरा अपराध प्रकट नहीं कर रहे हैं और मैंने जान-बूझकर कुछ किया नहीं है। मुझे मालूम होना चाहिये कि मुझसे कौन-सा अपराध बन पड़ा। तुझसे अवश्य कहा होगा और तू वरदानके बहानेसे बात छिपा रही है। मैं तेरे बेटोंमें सबसे प्यारा हूँ, तुम्हें मेरी शपथ है, सत्य-सत्य बतला दे।

नोट—३ यह प्रसंग वाल्मी०, अ० रा० आदिमें ऐसा नहीं है जैसा मानसमें। वाल्मीकीय आदिके प्रेमी इसको स्वयं देख लें। '**किन्तु राजा न वक्तीह मां न जानेऽत्र कारणम्।**' (अ० रा० २। ३। ६७) (अर्थात् किंतु इसका कारण मालूम नहीं होता कि महाराज मुझसे क्यों नहीं कहते) तथा '**कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता। कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥**' (वाल्मी० २। १८। ११) (अर्थात् मैंने अज्ञानसे भी पिताका कोई अपराध नहीं किया, अत: पिता जिस कारणसे कुपित हैं वह तुम कहो और तुम्हीं उनको मुझपर प्रसन्न करो) एवं '**अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम। स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्॥**' (२। १९। ६) (अर्थात् यह एक दु:ख मेरे हृदयको संतप्त कर रहा है कि स्वयं महाराजने भरतके अभिषेकके सम्बन्धमें मुझसे क्यों न कहा?) पाठक इन उद्धरणोंका मिलान मानसके श्रीरामजीके वाक्योंसे करें तो मानसकी किंचित् छटा भी इनमें न मिलेगी।

दो०—सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल* बक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥ ४२॥

* राजापुर, काशिराज, पं० रामगुलाम द्वि०, भा० दा० की प्रतियोंमें यही पाठ है। ना० प्र० ने 'जोंकजिमि' पाठ दिया है। वन्दन पाठकजीके हाशिये पर 'जिमि' लिखा है।

शब्दार्थ—'**बक्र**'=टेढ़ा। '**सलिल**'=पानी, जल। '**समान**'=सीधा, सम, बराबर।

अर्थ—रघुकुलमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीके स्वाभाविक ही सीधे-सादे वचनोंको दुर्बुद्धि कैकेयीने टेढ़ा ही करके अर्थात् टेढ़ा समझा। जैसे यद्यपि जल समान ही रहता है, पर जोंक उस जलमें टेढ़ी चालसे ही चलती है॥ ४२॥

टिप्पणी—१ '*सहज सरल*……।' अर्थात् वे वचन बनाकर नहीं कहते, वचन बनाकर कहें तो वचन झूठे हों और रघुवंशी झूठ नहीं बोलते, यथा—'***सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं***' और ये तो रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं, रघुवर हैं, ये कैसे झूठे बनाये हुए कुटिल वचन कहते? '*सहज सरल*……' यथा—'***सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥***' (१२६। ७) '***सरल सबल साहिब रघुराजू***', '***लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।***' (२५२। ५)श्रीरामजी सरल हैं, वैसे ही उनके वचन हैं। कैकेयीकी मति कुत्सित है, इसीसे वह इनके सरल वचनोंको कुटिल मानती है। इसीको कवि दृष्टान्त देकर स्पष्ट दिखाते हैं। जलमें दोष नहीं है, जोंकमें दोष है, जो समान जलमें टेढ़े चलती है। इसी तरह श्रीरामजीके वचनोंमें दोष नहीं है, कैकेयीकी कुमतिका दोष है।

पंडितजी—'वचन सरल है तो कोई उसे कुटिल क्यों जानेगी? इन दोनों बातोंके निर्वाहके लिये जल और जोंकका दृष्टान्त दिया। वाणी तर्कसे भरी हुई है, अतः कैकेयी कुटिल समझती है।'

नोट—इन वचनोंमें क्या कुटिलता उसको जान पड़ी? उत्तर—(१) उसने समझा कि हमें अपने कोमल वचनोंसे रिझाकर वे चाहते हैं कि वनवास न दूँ, पर मैं उनके वचनोंमें भूलनेवाली नहीं। (पंजाबीजी) (२) जैसे कोई अपने वैरीको दण्ड देना चाहे और वैरी दण्ड सुनकर खुश हो। यह देखकर दण्ड देनेवाला उसकी बातोंमें भूलकर उसे दण्ड न दे। वही छल-चातुरी इनके वचनोंमें है। ये हमें भ्रममें डालने, भुलावा देनेके लिये वनवासको सुखरूप कह रहे हैं कि जिससे इनको वन न जाने दूँ अथवा इसको सुखरूप जान मैं अपने पुत्रके लिये वनवास माँग लूँ, सो यह होनेका नहीं, मैं सब समझती हूँ कि पट्टीदार भाईको राज्य और वनवासमें क्या सुख हो सकता है, यह तुम्हारी चतुराई है,तुम्हें अवश्य वन भेजूँगी। (बाबा हरिदास और हरिहरप्रसादजी) (३) एक उत्तर ऊपर पं० रामकुमारजीने कहा है कि वह अपनी कुमति, कुटिलता या नीचताके कारण इन वचनोंमें कुटिलता देखती है। जो जैसा होता है दूसरा भी उसे वैसा ही सूझता है। (४) बैजनाथजी लिखते है कि कैकेयी सोचती है कि ये वन जाना नहीं चाहते तभी तो चाहते हैं कि महाराज स्वयं कहें और वे कहेंगे क्यों? इन्हें सत्य ही जाना होता तो मेरे ही कह देनेपर चल देते। अतः वह अपनी कुमतिके कारण कुटिल समझती है, जैसे जोंककी टेढ़ी चाल उसका स्वभाव ही है।

वि० त्रि०—कैकेयीको कुमति हो गयी है, इसलिये वह सीधी बातको भी टेढ़ी समझती है। सरकारने कहा कि '***अंब एक दुख मोहि बिसेषी। निपट बिकल नर नायक देखी॥***' सीधी-सी बात है पर वह अर्थ लगाती है कि मैं पुत्र होकर नरनायकके दुःखसे विशेष दुःखी हूँ और तू अर्धाङ्गिनी होनेपर भी नरनायकके लिये दुःखी नहीं है। सरकार कहते हैं कि '***थोरिहि बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥***' इस सीधी-सी बातका वह अर्थ लगाती है कि जिस बातसे बाप होकर वे इतने दुःखी हैं उस बातसे तू 'माँ' होकर दुःखी नहीं है, क्या माँको ऐसा ही होना चाहिये? सरकार कहते हैं कि '***राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू॥***' कैकेयी अर्थ लगाती है कि इनके ऐसा कहनेका अर्थ है कि मेरा कहीं कुछ भी अपराध नहीं है। निरपराधको वनवास देना क्या धर्म है। इसीसे पिताजी दुःखी हैं। भला तू ही बता दे कि मैंने क्या अपराध किया है? सरकार कहते हैं कि '***ताते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ॥***' वह रामजीके कहनेका यह अर्थ लगाती है कि अपराध मेरा तो कुछ है ही नहीं, ये राजा हैं निरपराधको वन जानेको कैसे कहें; इसलिये महाराज मुखसे मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें निरपराध-सापराधका विचार कुछ नहीं है। तू कहती है कि '***सकहु त आयसु सीस धरि मेटहु कठिन कलेस।***' अपनी शपथ इसलिये देते हैं कि मैं तुम्हारा बड़ा प्यारा हूँ, तू कहती थी कि '***भरत न मोहि प्रिय राम समाना।***' आज यह क्या करने जा रही हो?

(५) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'रामचन्द्रजीके सहज वचन ये हैं कि जो मैं पिता-आज्ञारूपी कल्पतरुको छोड़ अरंडरूपी राज्यको चाहूँ और अमृतरूपी भरत-राज्यको देखकर विरोधरूपी विषका अवलम्बन कर उनसे रार ठानूँ तो मेरे समान मूर्ख कोई न होगा। इस अभिप्रायको कैकेयीने अपनी दुर्बुद्धिके कारण कदाचित् यों समझ लिया कि रामचन्द्रजी कहते हैं कि राजा मुझ कल्पतरुको त्याग वरदानरूपी अरंडके वृक्षका सेवन करते हैं और अमृतरूपी राज्यके स्थानमें विषरूपी वनवास चाहते हैं, यही कैकेयीकी भूल है। (६) दीनजी—रामजीने 'महतारी' शब्द माताके अर्थमें कहा है, कैकेयी उसे व्यङ्ग समझकर 'महत—अरि' के अर्थमें लेती है, अतः उसे रामके सरल वचन कुटिल जान पड़े। (७) बैजनाथजी लिखते हैं कि रामचन्द्रजीके ***'सेवहिं अरँड कलपतरु त्यागी'*** इत्यादि वचनोंमें यह व्यङ्ग है कि मेरा रूप कल्पवृक्ष त्यागकर तुम अपयश अरंडको सेती हो, मेरा स्नेह और पतिव्रतरूप अमृतको त्यागकर तुमने विपत्तिरूपी विष माँगा, यह मूढ़ता है। सो ऐसी मूढ़ता होनेपर भी तुम न चूकीं, तुमने हमें वन दे सौतको दण्ड और पुत्रको राजप्राप्ति देख उस वरके माँगनेमें किंचित् सङ्कोच न किया।

८ वि० त्रि०—सरकारकी शुद्ध सात्त्विकी बुद्धि है, उन्होंने अपने मनोभावको ज्यों-का-त्यों शब्दोंमें व्यक्त कर दिया, पर कैकेयीकी बुद्धि तामसी हो रही है, उसे सब बातें उलटी ही समझमें आ रही हैं, यथा—'**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥**' (गीता। १८। ३२) उसने समझा कि सब बातें गुथी-मथी हैं। तभी न जो बात राजाने कही वही यह लड़का (रामजी) भी दूसरे शब्दोंमें कह रहा है। राजाने कहा था कि ***'कहि तजि रोष राम अपराधू। सब कोउ कहहिं राम सुठि साधू॥'*** यह भी भलीभाँति अपनी साधुता दरसाता हुआ अपना अपराध पूछ रहा है। जिसमें अपराध कहते ही जाँच-पड़ताल आरम्भ हो जाय और प्रवाह ही दूसरा बह चले।

जोंककी गति ही टेढ़ी है, जलमें टेढ़ापन नहीं है। परंतु वह अपनी कुटिलताका आरोप जलमें ही करती है, उसे जलमें ही टेढ़ापनका भान होता है। इसी भाँति कुटिल कैकेयीको सहज सरल रघुवर-वचनमें कुटिलताका भान हो रहा है।

रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेहु जनाई॥ १॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥ २॥
तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥ ३॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥ ४॥

शब्दार्थ—**रुख**=मन, मंशा, रुचि। **जनाई**=दिखाती हुई। **आना** (आन। सं० आणि=मर्यादा, सीमा)=शपथ। **जोग**=योग्य, लायक। **ताता**=हे तात! मेरे प्यारे! हे प्रिय ! रत=अनुरक्त , प्रेम रखनेवाले, अनुरागी, तत्पर, माननेवाले।

अर्थ—रानी श्रीरामजीका रुख पाकर (कि पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करेंगे) हर्षित हुई और कपटसे भरा हुआ स्नेह दिखाती हुई बोली॥ १॥ तुम्हारी शपथ और भरतकी सौगंद! मैं दूसरा कुछ भी कारण नहीं जानती॥ २॥ हे तात! तुम अपराधके योग्य नहीं हो, तुम तो माता, पिता और भाईको सुख देनेवाले हो॥ ३॥ हे राम! तुम जो कुछ कह रहे हो वह सब सत्य है। तुम (सत्य ही) पिता-माताके वचनोंमें अनुराग रखते हो॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'रहसी रानि'*****……' इति। कैकेयीको पहले सन्देह था कि यदि राम वन न जायँ तो कोई कुछ कर नहीं सकता। राजा यही बात महादेवजीसे माँगते हैं, यथा—***'बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेह।'*** (४४) इसीसे कैकेयीने जब श्रीरामजीका रुख वन जानेका पाया तब उसे हर्ष हुआ। ***'सनेहु जनाई'*** अर्थात् उसके हृदयमें स्नेह नहीं है, वह ऊपरसे स्नेह प्रकट करती है, जिसमें मेरा कहना मानें।

पण्डितजी—कैकेयी प्रसन्न हो, इसीसे रामजीने पहले वन जानेमें अपना लाभ कहा और भरतराज्यसे सुख होना पीछे कहा, वही हुआ। विपरीत हर्ष है अतः *'रहसी'* पद दिया। दोहा ४ (१) देखिये।

टिप्पणी—२ *'सपथ तुम्हार भरत कै आना'''* इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि *'मोरि सपथ तोहि कहु सति भाऊ'* इसीसे वह अपनी सचाई जनानेके लिये भरतसहित रामजीकी शपथ करती है। भरतकी शपथ भी की, जिसमें रामजी जानें कि भरतके समान ही हमपर भी यह स्नेह रखती है।

टिप्पणी—३ (क) *'तुम्ह अपराध जोगु नहिं·····'* यह श्रीरामजीके *'भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू'* का उत्तर है। और, *'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर'* एवं *'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'* इन वचनोंके उत्तरमें *'जननी जनक बंधु सुखदाता'* कहा। कैकेयीके इन वचनोंसे उसके हृदयकी बात झलक रही है कि श्रीरामजी माता-पिताका वचन मानकर वन जायँ और भरत राज्य करें। जननी-जनकके वचन मानकर वन जाओगे इससे उनके सुखदाता हो और भरतराज्यमें विघ्न न डालोगे इससे बन्धु-सुखदाता हो। (ख) श्रीरामजीने *'सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो·····'* इत्यादि जो कुछ कहा था उन सब वचनोंको कैकेयी अपने *'राम सत्य सब······'* इन वचनोंसे पुष्ट कर रही है, जिसमें श्रीरामजी वन जायँ, बदलें नहीं। *'सत्य सब'* का यही अभिप्राय है कि तुम जो कहते हो, वही करते हो, तुम झूठे नहीं हो।

नोट—यहाँ कैकेयी झूठा छोह प्रकटकर अपनी वचन-चातुरीसे आन्तरिक डाह छिपाकर रामचन्द्रजीको ठगना चाहती है, यह 'युक्ति' अलङ्कार है। कैकेयीकी बातोंमें अपना मतलब गाँठनेकी चतुराई भरी है, जिसमें रामचन्द्रजीको वनयात्रा अस्वीकृत न हो जाय, इसीसे वह प्रत्यक्षमें उनकी बड़ाई करती है। (वीर)

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजसु न होई॥५॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे॥६॥

शब्दार्थ—**बुझाइ**=समझाकर। **बलि**=बलैया लेती हूँ, बलिहारी जाती हूँ, तुम्हारी बलि जाऊँ। **सुअन** (सं० सूनु)=पुत्र, लड़का। **चौथे पन**=चतुर्थ अवस्था, बुढ़ापा।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ! तुम पिताको समझाकर वही बात कहो, जिससे बुढ़ापेमें उन्हें अपयश न हो॥५॥ जिस पुण्यने उन्हें तुम्हारे-से पुत्र दिये उसका निरादर करना ठीक नहीं॥६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु० *'बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन·····'* इति। (क) अर्थात् तुम्हारी बलिहारी है, तुम धर्मको समझते हो। अतः तुम पिताको धर्मकी बात समझाओ। वे तुम्हारे स्नेहमें विकल हैं, इसीसे वे धर्मको नहीं देखते और न अपयशको डरते हैं, अतएव समझाकर कहो। (ख) पुनः, भाव कि कैकेयी ऊपरसे श्रीरामजीको धर्मात्मा कहकर बलिहारी गयी; भीतरका अभिप्राय यह है कि अपने कार्यके लिये व्याकुल है, इसी निमित्त बलिहारी जाती है। (ग) *'चौथे पन'* अर्थात् तीन पन तो धर्मसे बीते अब चौथापन वृद्धावस्था मरणका समय है, मरते समय धर्म न छोड़ें। धर्म छोड़नेसे पाप होगा और पापसे अपयश, यथा—*'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* (७। ११२। ७) (घ) *'सोई'* से यह भाव भी निकलता है कि जो तुमने हमसे कहा वही उनसे भी कहो।

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह सम सुअन·····'* इति। तुम्हारे समान पुत्र दिये, ऐसा कहकर श्रीदशरथजी महाराजके सुकृतोंकी सुन्दरता कही। इनके सुकृत अत्यन्त सुन्दर हैं, तभी तो उनसे इनको सुन्दरताकी अवधि अत्यन्त श्रेष्ठ पुत्र तुम मिले, यथा—*'दसरथ सुकृत रामु धरे देही।'* (१। ३१०। १) (ख)—*'उचित न तासु निरादरु कीन्हें'*— भाव कि सुकृतने यह बड़ा भारी उपकार किया है। उपकारीका आदर करना उचित है, निरादर करना अयोग्य है। समस्त सुकृतोंका मूल सत्य है, यथा—*'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥'* (२८। ६) अतएव सत्यके परित्यागसे सभी सुकृतोंका अपमान होता है। प्रथम अपयश लेनेको मना किया, यथा—*'पितहि····जेहि अजस न होई'* और अब यश लेनेको कहती है। सुकृतके निरादर न करनेसे यश होता है, यथा—*'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'*

नोट—सुकृतका निरादर यह है कि जो वचन दे चुके उसका हर्षपूर्वक पालन नहीं करते, वरदान देनेको कहकर देते समय तनमें पुलक और मनमें हर्ष और उत्साह होना चाहिये; ऐसा न होनेसे जन्म व्यर्थ हो जाता है। यथा—'"देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥' (दो० ४२) राजा हर्षित न होकर शोचवश हो गये हैं, पश्चात्ताप कर रहे हैं। भाव यह कि सत्यकी मर्यादा पालन करनेमें स्थिर रहें। सत्य ही श्रेष्ठ धर्म है। उसका पालन प्रसन्नतापूर्वक करें, जो वर दिया है उसे कार्यरूपमें परिणत करें। संकोच तुम्हारे कारण था कि तुमसे कैसे कहें, तुम करोगे कि नहीं, वह संकोच भी निर्मूल था, क्योंकि तुम तो स्वयं मेरे बताने मात्रसे वन जानेको तैयार हो, अब तो अड़चनकी कोई बात न रह गयी। ऐसा न करनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे, कुल कलङ्कित हो जायगा—यह सब उनको समझाओ।

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥ ७॥
रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाए॥ ८॥

शब्दार्थ—कुमुख=कुत्सित (निकम्मा) मुख। मगह—'*असुरसेन सम*"""।' (१। ३१। ९) देखिये।

अर्थ—कैकेयीके निकम्मे मुखके ये वचन कैसे शुभ (वा, कुमुखमें ये शुभ वचन कैसे) लगते हैं, जैसे मगह देशमें गया आदि तीर्थ होते हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीको माताके सब वचन ऐसे अच्छे लगे, जैसे गङ्गाजीमें (अपवित्र) जल प्राप्त होने (मिलने) से शुभ और सुहावना हो जाता है॥ ८॥

नोट—१ '*लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक*""' इति। मगह देशमें भी गयादिक शुभ तीर्थ हैं, जहाँ पिण्डदान करनेसे पितर मोक्ष पाते हैं। वैसे ही कैकेयीका मुख अशुभ है पर उसमेंसे जो वचन निकले वे शुभ हैं, मुखको कुमुख अर्थात् अशुभ कहा, क्योंकि इस मुखसे उसने खोटे निकम्मे अति कटु वचन कहे हैं पुनः ध्वनिद्वारा वह इसी मुखसे वन जानेको कहती है, जो किसीको नहीं सुहाता और न ग्रन्थकारको वा किसी वक्ताको ही भला लगा, फिर उससे जो वचन निकले वे कपटपूर्ण और स्वार्थ साधनेके लिये कहे गये हैं, मतलब गाँठनेके प्रयोजनसे ही उसने रामजीको उत्तम सम्बोधन देकर उनकी प्रशंसा की है। उसका वास्तविक अभिप्राय अशुभ है, जो ऊपर चौपाईयोंमें दिया गया है। तीर्थसे प्राणियोंका कल्याण होता है, वैसे ही इसके वचनोंद्वारा राजाकी कीर्ति और पापी राक्षसोंका उद्धार होगा। आगे दूसरा उदाहरण इस बातका देते हैं कि ये कुटिल वचन श्रीरामजीको अच्छे लगे, जैसे गङ्गामें गन्दे नालोंका जल भी जाकर शुद्ध हो जाता है वैसे ही ये बुरे वचन भी श्रीरामजीके (आदरपूर्वक धारण वा) ग्रहण करनेसे सुहावने हो गये। वचन अपवित्र जल है, राम सुरसरि हैं।

टिप्पणी—१ (क) वनगमन माँगा (और श्रीरामजीसे पिताके वचनोंको सत्य करने अर्थात् श्रीभरतको निर्विघ्न राज्य करने देने और स्वयं वन जानेको कहती है। *सकहु त आयसु धरहु सिर*', '*जननी जनक बंधु सुखदाता*' आदिका यही अभिप्राय है); इससे मुखको अशुभ कहा। जैसे भरतजीने कैकेयीके मुखकी निंदा की है, यथा—'*बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥*' (१६२। २) (ख) मगहमें चार तीर्थ हैं, यथा—'**कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्। विषयश्चारणः पुण्यो नदीनां च पुनः पुनः॥**' (गरुड़पुराण अ० ८३ श्लोक १)* (रा० प्र०)], वैसे ही यहाँ कैकेयीके चार वचन हैं—'*तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥*' '*राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु*

* अर्थात् गया (जहाँ पितृ-श्राद्ध करनेके लिये लोग जाते हैं), राजगृही (जहाँ पुरुषोत्तममासमें कल्पवास होता है और पूरे मासभर मेला लगता है), तपोवन और पुनपुना नदी ये चार तीर्थ हैं। अ० दी० च० कारने ''किक्कटेषु गयापुण्यं नदीपुण्यं पुनः पुनः। चमणस्याश्रमं पुण्यं राजगृही तपोवनम्॥ वैकुण्ठं लघुदण्डं च तीर्थेषु मगधानि षट्।'' यह श्लोक दिया है। इसके अनुसार वे मगहमें गया, पुनपुना, चमणाश्रम, राजगृही, तपोवन, वैकुण्ठ—ये छः पुण्य तीर्थ कहते हैं। लघुदंडको वैकुण्ठका उपनाम बताते हैं, आजकल गिरियक नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ जरासंधका वध हुआ था और कार्तिकी पूर्णिमाको स्नान होता है।

बचन रत अहहू॥' 'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथें पन जेहि अजस न होई॥' और *'तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें॥'*—एक-एक वचन एक-एक तीर्थ है। [पुनः, भाव कि जैसे गयामें फलगू नदीके जलसे पिण्डा देनेसे पितरोंका उद्धार होता है, उन्हें सुख होता है; वैसे ही कैकेयीके इन वचनोंद्वारा श्रीरामजी राजाको अपयशरूपी दुःखसे मुक्त करेंगे। (मा० म०) अथवा, कैकेयीके वचनद्वारा श्रीरामवनगमन होगा। रावण पृथ्वीपर भाररूप है, उसका वध होनेपर शतकोटि रामायण बनेगी, जिसे पढ़-सुनकर भक्तजन भव तरेंगे। अतः वचनोंको शुभ तीर्थ कहा। (बाबा हरिदासजी) पुनः, श्रीरामजीने वनमें जाकर विराध, खर-दूषणादि चौदह सहस्र अमर राक्षसों, कबंध तथा सपरिवार रावणको मुक्त किया। शरभंग, गृध्रराज जटायु और शबरी इन भक्तोंको सद्गति दी और मित्रके शत्रु बालिको निज धाम दिया। कितने ही जीव दर्शन पाकर परमपदके योग्य हो गये। यह सब कैकेयीके वचनके कारण ही हुआ, अतः वचनको गयादि तीर्थ कहा—]

नोट—२ 'सुरसरिमें कैसा भी अपवित्र जल जा मिले वह पवित्र गङ्गाजल हो जाता है, यथा—*'करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥'* (१९४। ७) *'सुरसरि मिले सो पावन कैसे।'* पंडितजी लिखते हैं कि सुरसरि साढ़े तीन करोड़ तीर्थमय है।

पं० रा० कु०—*'रामहिं मातु बचन सब भाए'* इति। (क) वचन तीर्थ हैं, तीर्थ शोभित हुआ ही चाहें। कैसे भी निकम्मे वचन हों पर रामजीके यहाँ सब वचन तीर्थके समान शोभित होते हैं। (ख) वचन-तीर्थ राम-सुरसरिमें पड़कर शोभित हुआ ही चाहे। गङ्गा सर्व-तीर्थमयी हैं, इससे उनमें सभी तीर्थ आ मिलनेसे शोभित होते हैं। (खर्रा)

गौड़जी—भगवान्‌के स्वाभाविक सरल वचनको भी कुमति कैकेयी कुटिल ही समझती है। क्या करे, स्वभावसे लाचार है। पानी बराबर भी हो तो जोंक अपने टेढ़े चलनेके स्वभावको थोड़े ही छोड़ सकती है। वह भी कपट-स्नेह दिखाकर चालकी बातें करती है। यह नहीं कहती कि मैं वरदानवाली बात वापस लेती हूँ। लल्लो-चप्पोकी बात कहकर श्रीरघुनाथजीको सलाह देती है कि बेटा! तुम्हीं कोई ऐसा उपाय पिताको समझा दो जिससे कि चौथेपनमें उन्हें अपयश भी न हो और तुम्हारे-जैसे सुपूतका निरादर भी न हो, सलाह भी क्या माकूल देती है? पर जो दिल कहीं साफ होता तो ऐसी सलाहकी जरूरत न थी। मगहकी तरह उसका हृदय तो मलिन है। परंतु गयादिक तीर्थकी तरह उसके मलिन हृदयसे शुभकामनाके वचन निकलते हैं; इसीलिये कविको इस कटुमुखवालीके मुखसे निकले हुए शुभ वचन ऐसे लगते हैं, मानो मगहमें जहाँ पुण्यका नाश हो जाता है गयादिक तीर्थ हैं, जहाँ पुण्यका उदय होता है। यह तो कविके हृद्गत भावका वर्णन हुआ। अब वे ही वचन श्रीरघुनाथजीको कैसे लगे? माताके वचन थे। श्रीरामजी जन्मसे उन्हींको माता मानते आये हैं। माताके वचनोंमें क्या कभी सुपुत्र कपट या कुटिलता समझ सकता है? श्रीरघुनाथजीको माताके वचन और सभी वचन, बहुत पसंद आये। भगवान्‌के सहज, सरल आदर्श हृदयके भीतर कुटिलता कहाँ रह सकती है? क्रोधके तापसे विगलित कुटिल वचन-द्रव भगवान्‌के शीतल सरल सच्चे सीधे हृदयके साँचेमें आकर जब ढल जाता है तो उसमें टेढ़ापन कहाँ रह सकता है? इसीलिये रघुनाथजीको माताके वचन पसंद आये। गङ्गाजीमें मिलकर कर्मनाशा-जल भी गङ्गाजल हो जाता है। गङ्गा उससे अपवित्र नहीं होतीं। चौपाईके पूर्वार्द्धमें कैकेयीके वचनोंका भाव कविको कैसा लगा यह वर्णित है। उत्तरार्द्धमें श्रीरघुनाथजीको कैसा लगा, इसका वर्णन है।

श्रीनंगे परमहंसजी—कैकेयीके मुखमें जो भाव है वह मगह देशकी तरह अशुभ है। मुखको मगह कहनेका भाव कि मगह अधोगतिको प्राप्त कराता है, वैसे ही कैकेयीके मुखका जो भाव है वह अधोगतिको देनेवाला है। कैकेयीके *'तुम्ह अपराध जोगु नहि ताता। जननी जनक बंधु सुख दाता'* में ध्वनि यह है कि हमको तुम्हारे वन जानेमें सुख है, पिताको अपने वचन सत्य हो जानेमें सुख है और भरतको राज्य पानेमें सुख है। इन वचनोंमें भी वही वन जानेका भाव है। पुनः, (*'राम सत्य सब जो कछु*

कहहू।'''' से) कैकेयीका आशय यह है कि जो तुमने कहा है कि वनमें मुनियोंके दर्शन, सत्सङ्ग मिलेंगे और ***'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर' जो न जाउँ बन ऐसेहु काजा'*** उसको सत्य करो। भाव यही है कि वन जाओ। इस तरहका भाव जो उसके मुखमें है, वही मगह देशकी तरह अधोगतिका देनेवाला है। पर कैकेयीके मुखके जो वचन हैं ***'तुम्ह अपराध जोग नहिं*****'** इत्यादि, उनका जो शब्दार्थ है वह गयादिक तीर्थके समान ऊर्ध्वगतिको देनेवाला अर्थात् शुभ है। जैसे मगहके बीचमें गया है अर्थात् गयाके चारों तरफ मगह है, वैसे ही मुखके बीचमें वचन हैं। जब मुखसे वचन निकलता है तब मुख और वचन दो वस्तु कहे जाते हैं। अतः उसका दो तरहका अर्थ भी होगा। एक भावार्थ, दूसरा शब्दार्थ। भावार्थ मुखसे लिया जायगा और शब्दार्थ वचनसे। इसीसे ग्रन्थकारने भावार्थके लिये मुख लिया है—***'लागहिं कुमुख'*** और वचनसे शब्दार्थ लिया है—***'बचन सुभ कैसे।'*** अतः 'कुमुख' का अर्थ अंतस नहीं होगा।

इसी तरह यहाँ वनवास माँगनेसे 'कुमुख' नहीं कहा, बल्कि इन वचनोंमें जो भाव वन जानेका है उससे 'कुमुख' कहा।

कैकेयीने जो श्रीरामजीसे प्रथम बार कहा था कि ***'सुनहु राम सब कारन एहू।'*** इत्यादि। उनको श्रीरामजीने उदाहरणके साथ उत्तर देकर स्वीकार कर लिया। फिर पूछा कि हमसे कोई भारी अपराध हुआ है। जिससे पिताजीको दुःख हो रहा है वह अपराध तुम सद्भावसे बताओ। कैकेयीने उत्तर दिया ***'तुम्ह अपराध****** अहहू।'*** ये वचन श्रीरामजीको अच्छे लगे। ***'जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाए'***—भाव कि गङ्गाजी अशुभ जलको भी पाकर उद्विग्न न होकर उस जलको पवित्र कर देती हैं, वैसे ही कैकेयीके वचनोंसे श्रीरामजी उद्विग्न न हुए बल्कि उसके भावको सत्य कर दिया।

कैकेयीने जो राजाके लिये संदेसा कहा है, ***'पितहि बुझाइ कहहु*****'** इत्यादि, वह वचन ***'मगह गयादिक'*** की उपमामें नहीं है; क्योंकि संदेसाकी उपमा नहीं दी जाती।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भगवती कैकेयी सदा सुमुखी रही, यथा—***'बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि'***, सो इसमें राजाके कालने पिशाचकी भाँति प्रवेश किया, तबसे वह कुमुखि हो गयी। स्वयं महाराज कहते हैं कि ***'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'*** स्थान-स्थानपर तबसे ऐसी ही उपमा कवि देते हैं, यथा—***'जागति मनहु मसान', 'को तू अहसि सत्य कहु मोहीं।'*** इत्यादि। वही कैकेयी आज पिशाचाविष्टकी भाँति अशुभभरी शुभ-छूँछी हो गयी। इसलिये उसे 'कुमुखि' कहा गया। वह जितनी बातें बोलती है, वे सभी चक्रवर्तीजीकी प्राणघातक हैं, अशुभ हैं। इस समय दो बातें शुभ भी बोल गयीं, यथा—***'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥ तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें॥'*** कैसा निर्मल और दोषरहित उपदेश है, परंतु कैकेयीके मुखसे निकला है, अतः इसका भी पर्यवसान चक्रवर्तीजीकी मृत्युमें ही है। मगधदेश अपवित्र माना गया है, इसपर राजा त्रिशङ्कुके रथकी छाया पड़ी हुई है। इसमें गयादिक दो-चार तीर्थ हैं। उनसे पितरोंका उद्धार होता है, पर हैं ये मगधके भूमिकापर ही। अतः सर्वथा उपादेय होनेपर भी आसुरतीर्थ हैं। दैवतीर्थकी भाँति इसकी शोभा नहीं है। इसी भाँति कैकेयीके शुभ वचन भी असुरतीर्थकी भाँति हैं, देवतीर्थकी भाँति मनोरम नहीं हैं।

दो०—गइ मुरुछा रामहिं सुमिरि नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव राम आगमन कहि बिनय समय सम कीन्ह॥४३॥

शब्दार्थ—**मूर्छा**=बेहोशी, अचेतनता। **फिरि**=फिरकर, उलटकर। **करवट** (सं० करवर्त)=हाथके बल लेटनेकी मुद्रा। करवट लेना=दूसरी ओर फिरकर लेटना, दूसरे हाथके बल लेटना, एक बलसे दूसरे बल लेटना।

अर्थ—राजाकी मूर्छा दूर हुई, उन्होंने रामका स्मरण (अर्थात् राम-राम कह) कर उलटकर करवट ली। मन्त्रीने रामचन्द्रजीका आना कहकर समयके अनुकूल विनती की॥४३॥

नोट—*'गइ मुरुछा'* इति। प्रातःकाल जब द्वारपर वीणा-वेणु-शङ्ख आदिकी ध्वनि होने लगी थी उस समयतक राजाको कुछ होश था, वे व्याकुल थे, यथा—*'बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा। बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥ पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक॥ मंगल सकल सोहाहिं न·······।'* (३७। ५। ७) जब सुमन्त्रजी आये तब उन्होंने देखा कि *'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहु कमल मूल परिहरेऊ॥'* (३८। ७) फिर कवि कहते हैं कि *'चलेउ सुमन्त्र राय रुख जानी।'* (३९। ३) जब सुमन्त्रजी श्रीरामजीको लिवाकर आये, श्रीरामजीने उनकी दशा देखी कि *'सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु। सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥'* श्रीरामजीका न तो सुमन्त्रजी राजासे आगमन कहते हैं और न श्रीरामजी पिताको प्रणाम करते हैं। इससे अनुमानित होता है कि श्रीरामजीके पहुँचनेपर ये मूर्छित थे, होशके चिह्न न थे; नहीं तो श्रीरामजी प्रणाम अवश्य करते। तब श्रीरामजी मातासे दुःखका कारण पूछने लगे। कवि कहते हैं कि कैकेयीने सब प्रसङ्ग सुनाया—*'जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥'* परंतु इन बाणोंका लगना और उससे करक होना नहीं कहा, जैसे पूर्व कहा था। इससे भी सिद्ध होता है कि वे मूर्छित थे। वह मूर्छा गयी, यह बात उनके रामनामोच्चारणसे जानी गयी। नेत्र अब भी बंद हैं। दूसरे *'मनहुँ'* सूचित करता है कि वस्तुतः ऐसा है नहीं। यदि *'चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी'* का यह भाव हो कि राजाके न बोलनेसे वे उनका भी रुख समझकर श्रीरामजीको लेने चल दिये तब तो राजाका सुमन्त्रजीके आनेके पूर्व ही मूर्छित होना ले सकते हैं, जब *'सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक'* कहा गया था।

टिप्पणी—मुखसे राम-राम उच्चारण करना ही स्मरण करना है, यथा—*'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥'* (१। ६०) समयके अनुसार विनती की अर्थात् कहा कि हे राजन्! रामजी आये हैं, धीरज धरकर देखिये। यही बात आगेकी चौपाईसे स्पष्ट होती है, यथा—*'अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे॥'* (३)—यहाँ मन्त्रीका प्रणाम करना नहीं लिखते, केवल रामजीका प्रणाम करना आगे लिखते हैं; कारण कि मन्त्री प्रथम प्रणाम कर चुके हैं, यथा—*'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई।'* (३८। ६) और श्रीरामजी प्रथम-प्रथम आये हैं।

पंजाबीजी, रा० प्र०—(१) विपत्ति और शोकका समय है, इससे थोड़े ही अक्षरोंमें रामगमनादिक वृत्तान्त निवेदन कर दिया। (२)—विनती की कि विपत्तिका समय है, धीरज धरना चाहिये, रघुनाथजी आये हैं, जो आज्ञा देनी हो सो कहिये।

अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे॥ १॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे॥ २॥
लिए सनेह बिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**अवनिप**=(अवनि+प) पृथ्वीका पालक वा रक्षक, राजा। **अकनि**=(सं० आकर्ण्य) सुनकर। **पगु धारे**=पधारे, आये हैं।

अर्थ—राजाने सुनकर कि रामजी आये हैं, धीरज धारण करके तब नेत्र खोले॥ १॥ मन्त्रीने सँभालकर राजाको बिठाया। राजाने रामचन्द्रजीको चरणोंपर पड़ते अर्थात् प्रणाम करते देखा॥ २॥ (तो) स्नेहसे व्याकुल होकर उन्होंने इनको हृदयसे लगा लिया। मानो सर्प खोयी हुई मणि फिरसे पा गया॥ ३॥

नोट—१ *'अवनिप'*— पृथ्वी धीरज धारण करनेवाली है, ये उसके पति हैं; अतः इन्होंने भी धैर्य धारण किया। धैर्य धारण करनेके सम्बन्धसे यहाँ *'अवनिप'* पद दिया गया। यथा—*'बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥'* (६४। ४) *'धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरम बिचारि॥'* (२८६) [*'नयन उघारे'*—नेत्र व्याकुलताके कारण बन्द थे। पुनः, कैकेयीका मुख न देखें, इसलिये भी नेत्र बन्द किये थे। (पंजाबीजी, रा० प्र०) श्रीरामजीको देखनेके लिये खोले।]

टिप्पणी—१ *'सचिव सँभारि राउ बैठारे।*.......' इति।*'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥'* (३४। ७) यहाँतक राजाकी व्याकुलता वर्णन की गयी। अब उस प्रसङ्गको यहाँ मिलाते हैं कि राजा इतने विकल हैं कि अपनेसे उठकर बैठ भी न सकते थे, मन्त्रीने सँभालकर बिठाया। आँख खोलनेमें बड़ा धीरज धरना पड़ा था वह भी रामचन्द्रजीको 'निहारने' के लिये, नहीं तो नेत्र खोलनेमें भी असमर्थ थे।—(पु० रा० कु०)

नोट—२ *'निहारे'*— अर्थात् एकटक देखने लगे। देखनेका भाव कि इनका रूप देखकर दुःख भी भूल जाता है। यथा—*'कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।'* (६७। ४) (यह श्रीसीताजीने कहा है), *'दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत'* (यह माता कौसल्याका वाक्य है।) (गी० २। ५३) **'अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।'** (वाल्मी० २। १८। ९) (यह श्रीरामजीने कैकेयीसे कहा है कि राजा यदि कुपित भी होते थे तो मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे)। पुनः, वह ऐसा रूप ही है कि उसके देखनेपर भी तृप्ति नहीं होती। पुनः देखते हैं कि क्या ऐसे सुकुमार सुन्दर पुत्र वनके योग्य हैं? वा, अब तो इनका वियोग अवश्य ही होगा, नेत्रभर देख ही लूँ।—(पंजाबीजी) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि बिना वस्त्र-भूषण पहिने आये हैं इस कारण देख रहे हैं।

टिप्पणी—२ *'गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई'* इति। गयी हुई मणिपर सर्पका स्नेह अधिक बढ़ जाता है, इसीसे मिलनेपर वह उसे हृदयमें लगाता है। राजा सर्प हैं। कैकेयीका वर माँगना मणिका खो जाना है। श्रीरामजीका आना मणिका मिलना है। राम-मणि मिल गये इसीसे स्नेहसे व्याकुल होकर राजाने उनको हृदयसे लगा लिया। सर्प मणिके वियोगसे व्याकुल होता है और मणिके चले जानेपर मरण-दशाको प्राप्त होता है; वैसे ही राजा भी व्याकुल रहे, मरण-दशाको प्राप्त रहे। अब श्रीरामजी आ गये, मानो खोयी हुई मणि फिर मिल गयी। मणिका खोना पूर्व लिख आये हैं; यथा—*'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहु दीन मनिहीन भुअंगू॥'* (४९। १) अतः अब मणिका मिलना लिखते हैं।

पंडितजी—इससे यह भी सूचित करते हैं कि (१) जब रातभरके विक्षेपमें इतना दुःख हुआ तो १४ वर्ष कौन निबाह सकता है, तुरत ही मृत्यु हो जायेगी। (२) श्रीरामजीका वन जाना राजाके हृदयमें समा गया है।

रामहि चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि प्रबाहू॥४॥
सोक* बिबस कछु कहइ न पारा। हृदयँ लगावत बारहिं बारा॥५॥

शब्दार्थ—**बिलोचन**=दोनों नेत्र—('बि' का अर्थ 'दो' लेना गुजरातीका प्रयोग है—दीनजी।) प्रवाह=धारा। पारना=सकना। **'कहइ न पारा'** यह प्रयोग बँगलाका है जैसे 'बोलिते पारिबे ना', 'चौलिते पारीना' आदि। (दीनजी)

अर्थ—राजा श्रीरामजीको (एकटक) देखते रह गये। उनके दोनों नेत्रोंसे जल (आँसू) का प्रवाह (बह) चला॥४॥ शोकके विशेष वश होनेसे वे कुछ कह नहीं सकते। बारम्बार श्रीरामचन्द्रजीको हृदयसे लगाते हैं॥५॥

नोट—राजा रामचन्द्रजीके भावी वियोगको विचारकर उनको एकटक देखने लगे और यह समझकर कि हमारे नेत्रोंकी ओट (नजरसे बाहर) होने ही चाहते हैं, उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह उमड़ पड़ा।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ (क) देखिये, स्नेहसे व्याकुल होनेपर महाराजने श्रीरामजीको हृदयसे लगा लिया था, यथा—*'लिए सनेह बिकल उर लाई।'* पर जब वे शोकसे व्याकुल हुए तब बारम्बार हृदयमें लगाने लगे। इससे जनाया कि स्नेहकी व्याकुलतासे शोकमें अधिक व्याकुल हुए। (ख) यहाँ राजाके तन-मन-वचन तीनोंमें व्याकुलता दिखाते हैं—*'हृदय लगावत बारहिं बारा'* यह तनकी, *'सोक बिबस'* यह मनकी और *'कछु कहइ न पारा'* यह वचनकी व्याकुलता है। (ग) *'सोक बिबस'* अर्थात् यदि सामान्य शोकके

* सोच—रा० प०।

वश होते तो कुछ कहते, जैसे आगे कहेंगे—*'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।·····'* इत्यादि, पर यहाँ राजा शोकके वश हैं, इसीसे कुछ कह न सके। (घ) *'हृदयँ लगावत बारहिं बारा'* इति।—हृदय जल रहा है। यथा—*'अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।'* (३२। ५) *'लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥'* (१। २९५। ५) उसको शीतल करनेके लिये हृदयमें लगाते हैं। बारंबार हृदयमें लगानेसे सूचित होता है कि वनका जाना समझकर हृदयकी जलन नहीं जाती।

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहिं रघुनाथ न कानन जाहीं॥ ६॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ ७॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कानन**=वन। **निहोरी**=अर्थात् हम जन्मभर तुम्हारा एहसान मानेंगे इस प्रकार दीनतापूर्वक प्रार्थना करके। **अवढर**—(श० सा०)—औढर=जिस ओर मनमें आया उसी ओर ढल पड़नेवाले; मनमौजी; जिसकी प्रकृतिका कुछ ठीक ठिकाना न हो। यथा—*'देत न अघात रीझि जात पात आकही के भोरानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं।'* (क० ७। १५९) *'औढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥'* (वि० ६) पात्र-अपात्रका विचार न करके देनेवाले।

अर्थ—राजा हृदयमें ब्रह्माजीको मनाते हैं, जिससे रघुनाथजी वनको न जायँ॥ ६॥ महेशजीका स्मरण करके निहोरापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि हे सदाशिव! आप मेरी विनय सुनिये॥ ७॥ आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले और अवढर दानी हैं। मुझे दीनजन जानकर मेरे दुःखको दूर कीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—विधिको मनानेका भाव कि—(१) 'वनवास ब्रह्मा ही देनेवाले हैं, यह इन्हींका किया हुआ है, सब प्रकारका संयोग इन्हींके हाथमें है। यथा—*'जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा।'* (१२१। ४) *'तेहि पठए बन राजकुमारा।'* (११९। ४), *'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू।'* (१। २२२) इत्यादि। (२) 'आप रचयिता और सृष्टिकर्त्ता हैं, भला इतना तो कीजिये कि·····।'—(पंडितजी) (३) 'राजा बड़े प्रबल वात्सल्यरसमें मग्न हैं। वे विचारते हैं कि श्रीरामजीको वनमें दुःख होगा; अतः वे सुखपूर्वक घरहीमें रहें। उनका ध्यान किंचित् भी सुकृतकी ओर नहीं जाता कि श्रीरामजीके वन न जानेसे उनका वचन असत्य होगा।' (मा० म०) (४) रघुनाथजी वनको न जायँ अर्थात् हमारे वचनको त्यागकर घर रहें, जैसा शिवजीकी विनतीमें स्पष्ट है—*'बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेहु।'* शोकसे बेबस हैं और कैकेयी तथा रामजी समीप हैं, इससे मनमें मनाते हैं।

नोट—यहाँ शिवजीके लिये जितने विशेषण दिये हैं वे सब साभिप्राय हैं। 'महेश' अर्थात् आप महान् ईश हैं, महान् कार्य कर सकते हैं। यह भी बड़ा काम है, हमारा दुःख भारी है। 'सदाशिव' अर्थात् आप सदैव कल्याणस्वरूप हैं, हमारा यह बड़ा कार्य करके हमारा कल्याण आप अवश्य कर सकते हैं। *'आसुतोष'* (आसु=शीघ्र अर्थात् आप शीघ्र संतुष्ट होनेवाले हैं, यहाँ शीघ्र ही संतुष्ट होनेका काम है; क्योंकि रामजी वनको जाना ही चाहते हैं, शीघ्र ही प्रेरणा करके उन्हें घरमें रखिये। अन्य देवता शीघ्र संतुष्ट नहीं हो सकते, अतएव मैं आपका स्मरण करता हूँ और विनय करता हूँ। आप अवढरदानी हैं अर्थात् आपके दानकी मिति नहीं है, आप अत्यन्त दानी हैं, यथा—*'अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे।'* श्रीरामजीको घरमें रखना बड़ा दान है। यह दान मुझे आप ही दे सकते हैं; इसे दीजिये। पुनः 'अवढर' का अर्थ यह भी होता है कि जहाँ कोई दूसरा न ढरे, न देवे, न पसीजे वहाँ आप ढरनेवाले हैं। अवढर दान अर्थात् बेअंदाज, जिसका कोई लेखा नहीं हो सकता ऐसा दान आप देते हैं। पुनः, अवढरदानीसे अनहोनीके भी करनेवाले जनाया—मेरा सत्य भी रहे और राम वनको न जायँ, यह अनहोनी बात हो जाय। *'दीन जनु'* बनकर माँगते हैं, क्योंकि दीनपर शिवजी अत्यन्त प्रसन्न होते हैं—*'सकत न देखि दीन कर जोरे।'* *'आरति'* और *'जन'* शब्दोंसे अपनेको आर्त भक्त जनाया।

दो०—तुम्ह प्रेरक सब के हृदय सो मति रामहिं देहु।
बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु॥ ४४॥

शब्दार्थ—**प्रेरक**=प्रेरणा करनेवाले, उत्तेजना देने या दबाव डालनेवाले, किसी काममें प्रवृत्त करने या लगानेवाले।

अर्थ—आप सबके हृदयके प्रेरक हैं, रामचन्द्रजीको वह बुद्धि दीजिये जिससे मेरे वचनको त्यागकर और शील-स्नेह छोड़कर वे घरमें रहें॥ ४४॥

टिप्पणी—१ यदि ब्रह्मा और शिवजी कहें कि हम रामको वन जानेसे कैसे रोकें तो उसपर कहते हैं कि '*तुम्ह प्रेरक*·····।' वचनका त्याग तभी सम्भव है जब शील-स्नेह न रहे, शील-स्नेहके रहते ऐसा सम्भव नहीं और राजा यह भी जानते हैं कि श्रीरामजी शील-स्नेह नहीं छोड़ेंगे; यथा—'***को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा॥***' (२४। ४) अतएव वे ब्रह्मा और शिवजीसे विनती करते हैं कि आप उनका शील और स्नेह छुड़ावें तभी छूट सकता है। इसके छूटनेसे सब काम बन जायगा। २—ब्रह्मा और शिवजीकी विनती की, विष्णुभगवान्‌की क्यों न की? क्योंकि राजा जानते हैं कि राम तो चराचरनायक हैं और जिस कल्पमें क्षीरसागर या वैकुण्ठसे अवतार होता है, उस कल्पके दशरथजी जानते हैं कि रामजी विष्णुभगवान् ही हैं, इससे प्रार्थना करना व्यर्थ ही है। यथा—'***सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥***' (७७। ६) विशेष ४५ (३) में वि० त्रि० के टिप्पणी देखिये। [सू० मिश्र कहते हैं कि शिवजी सांसारिक सुखके देनेवाले हैं, इससे उनका स्मरण किया। '***बचन मोर तजि रहहिं***·····' का भाव कि दोनों बातें बनें, हमारा सत्य भी रह जाय और रामजी घर बने रहें। (रा० प्र०)]

नोट—१ राजाके स्नेह और शीलसे यहाँ तात्पर्य है। पर बैजनाथजी लिखते हैं कि कैकेयीका स्नेह छोड़कर कहें कि तू हमारी कौन है जो तेरे कहनेसे हम वनको जायँ और राजाका शील छोड़ें कि सभाके बीच तो हमें राज्य दे चुके, अब उनका राज्य कहाँ रह गया जो भरतको दें। पहले हमको दिया अब दूसरेको, तो उनमें सत्य कहाँ रह गया जिसको हम मानें।

नोट—२ ये सब विचार प्रेम-विह्वलता और कर्तव्य-परायणताके आदर्श-स्वरूप हैं। (वि० टी०) '***बचन मोर तजि***' से जनाया कि जो रानीने रामजीसे कहा, वे वचन आपके ही हैं।

अजसु होउ जग सुजसु* नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुर जाऊ॥ १॥
सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट राम जनि होंही॥ २॥

शब्दार्थ—**नसाऊ**=नष्ट हो जाय। सुरपुर=देवताओंकी पुरी, अमरावती, देवलोक, स्वर्ग। **जाऊ**=जाय, चला जाय, न मिले, न पाऊँ। **ओट**=आड़, ओझल, दूर। **नरक**—पुराणों और धर्मशास्त्रों आदिके अनुसार वह स्थान जहाँ पापी मनुष्योंकी आत्मा पापका फल भोगनेके लिये भेजी जाती है। इनसे अधिक प्राचीन ग्रन्थोंमें नरकका उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि वैदिककालमें इस प्रकारके नरककी भावना नहीं थी। (श० सा०)

अर्थ—संसारमें अपयश भले ही हो, मेरा सुन्दर यश (कीर्ति) भले ही नष्ट हो जाय, मैं नरकमें भले ही पड़ूँ, स्वर्ग भले ही चला जाय॥ १॥ सभी दुःसह (न सहने योग्य) दुःख मुझसे सहन करा लीजिये, (भोगनेको दीजिये) पर रामचन्द्रजी मेरे नेत्रोंकी ओट न हों॥ २॥

नोट—१ पहले प्रार्थना यह की कि ऐसा कीजिये कि मेरा सत्य न जाय और रामजी भी वन न जायँ। अब कहते हैं कि दोनों न हो सकें तो न सही, राम घरमें रहें तो मैं सत्य भी छोड़ दूँ। इससे मेरी बनी-बनायी कीर्ति और बना-बनाया स्वर्ग यह सब नष्ट हो जायँगे, मेरी अपकीर्ति होगी, मैं नरकमें

---

* लालासीतारामवाली प्रतिलिपिमें 'नसाऊँ', 'जाऊँ' पाठ है। 'नसाऊ' 'जाऊ'—(पं० राम गु० द्वि०, भाग० दा०, काशिराज, वन्दन पाठक इत्यादि) 'सुरपुर जाऊ' का अर्थ स्वर्गको जाऊँ और ऊपर दिया हुआ अर्थ भी हो सकता है।

पड़ूँगा, पर यह सब मुझे मंजूर है, स्वीकार है, रामजीका वियोग स्वीकार नहीं है। यहाँ श्रीदशरथ महाराजका मुख्य सिद्धान्त है—*'नरक सरग अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'*

टिप्पणी—१ *'अजसु होउ'* इति। (क) अपयश मंजूर किया, इसीसे नरकमें पड़ना कहा; क्योंकि अपयशसे नरक होता है। सुयश नष्ट होना कहा इसीसे सुरपुरका 'जाना' कहा, क्योंकि सुयशसे सुरपुर होता है, सुयशके नष्ट होनेसे सुरपुर नहीं मिलता—**'यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥'** अर्थात् इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका गान जितने वर्ष होता है, उतने हजार वर्ष वह मनुष्य स्वर्गलोकमें निवास करता है। (ख) कैकेयीने कहा था कि *'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥'* इसपर राजाके ये वचन हैं कि *'अजसु होउ।'* पुनः (ग) 'अपयश हो' सुयश नष्ट हो, इस वाक्यसे इस लोकका और *'नरक पड़ँ स्वर्ग न पाऊँ'* इससे परलोकका बिगड़ना अर्थात् अपने दोनों लोकोंका बिगड़ जाना, नष्ट होना मंजूर करते हैं, यह सूचित किया। पर राम आँखोंसे अलग न हों, उनका नेत्रोंसे ओझल होना स्वीकार नहीं है।

टिप्पणी—२ *'सब दुख दुसह सहावहु'''* इति। इससे सूचित करते हैं कि राम-विरह-दुःख सब दुःखोंसे अधिक है, यथा—*'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥'* (३४। ७) *'दुसह दुख'* का भाव कि हमारे बड़े भारी पाप हैं, इसीसे श्रीरामजी बिछुड़ते हैं। भारी पापका फल भारी दुःख होना ही चाहिये, अतएव अपने भारी पापके प्रायश्चित्तके लिये दुःसह दुःख माँगते हैं और एक-दो नहीं किन्तु जितने भी दुःसह दुःख हैं, उन सभीको सहनेको तैयार हैं।—(यह अनुज्ञा अलंकार है। क्योंकि जो अङ्गीकार करने योग्य नहीं है, उसे अङ्गीकार करते हैं।)

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि शिवजीसे यह प्रार्थना करनेका तात्पर्य यह है कि जो रामजीका मन हो जाय तो मैं सत्य भी त्याग दूँ; नहीं तो वे तो धर्म-धुरीण हैं, मेरे सत्य छोड़नेपर भी वे चले जायँगे तब तो एक भी बात न होगी, सत्य भी गया और वे चले भी गये, अतएव आप प्रेरणा करें।

'मानस मयङ्क'—राजा नरकालयमें वास चाहते हैं तो अपना वचन कहाँ पाला? और रामचन्द्रजीको घरहीमें रहनेको कहते हैं; अतएव यह स्पष्ट है कि वात्सल्यरसवश राजा सुकृतका त्याग करते हैं—सन्दर्भ यह कि रामके प्रेमसे अन्य सुकृत तुच्छ हैं।

अस मन गुनइ* राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मनु डोला॥ ३॥
रघुपति पितहि प्रेम बस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी॥ ४॥
देश काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**गुनइ**=विचार कर रहे हैं। **डोला**=चञ्चल हुआ, हिला, स्थिर नहीं होता। **पात**=पत्ता। **अनुमानी**= ढंगसे, अंदाजसे जानकर, यथा—*'समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी॥'* (बा०) **अनुसारी**=अनुसार, योग्य।

अर्थ—राजा मनमें इस प्रकार विचार कर रहे थे, बोले नहीं। उनका मन पीपलके पत्तेके समान डोल रहा है॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीने पिताको प्रेमके वश जान और यह अनुमान कर कि माता (कैकेयी) फिर कुछ कहेगी, (जिससे पिताको विशेष दुःख होगा) देश, काल और अवसरके अनुकूल विचारकर नम्र वचन बोले॥ ४-५॥

नोट—१ *'अस मन गुनइ राउ नहिं बोला'* इति। न बोलनेके कारण ये कहे जाते हैं—(क) श्रीरघुनाथजीको रखनेसे वचन असत्य होता है; अतः मौन हो गये, मन काँप रहा है। (पं०) (ख)—विनती कहकर सुनानी चाहिये थी। राजाने ब्रह्मासे और शिवजीसे मनमें विनती की, वचनसे विनती नहीं की, क्योंकि शोकके वश हैं, यथा—*'सोक बिबस कछु कहइ न पारा'* (पु० रा० कु०)। (ग) राजा शोक और प्रेममें मग्न

* 'गुनइ'—पं० राम गु० द्वि०, वंदन पाठक, भागवतदासजी'''''''। गुनइ—लाला सीताराम।

हैं, ऐसे विह्वल हैं कि बोल नहीं सकते कि कुछ रामजीसे कहें, मनमें विचार करते हैं, विनय करते हैं कि किसी प्रकारसे रामजी वनको न जायँ; इसी विचारमें डूबे हैं, बोलनेका अवकाश नहीं और न उसकी सुध ही है।

टिप्पणी—१ (क) *'बिधिहि मनाव राउ मनमाहीं।'* (४४। ६) उपक्रम और *'अस मन गुनइ राउ'* उपसंहार है। (ख) *'पीपर पात सरिस मन डोला'* अर्थात् स्थिर नहीं होता। तात्पर्य कि विधिको मनाया, शिवजीकी विनती की, फिर भी मनमें विश्वास न हुआ कि रामजी घरमें रहेंगे। यहाँ पूर्णोपमा है।

नोट—२ *'पीपर पात·····'* पर अन्य टीकाकारोंके भाव ये हैं—(१) अर्थात् संकल्पोंसे मन चञ्चल हो गया। अथवा सत्य छोड़ रघुनाथको घरमें रखनेकी ओर मन डोला। (रा० प्र०) (२) शुद्ध धर्म, सत्य या शुद्ध भक्ति दोनोंमेंसे एकपर भी मन स्थिर नहीं होता। अर्थात् शुद्ध सत्य ग्रहण करें तो स्त्री-पुत्रादि कुछ नहीं हैं। जैसे हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये स्त्री-पुत्र सबका त्याग किया। यदि शुद्ध भक्ति ग्रहण करें तो हरिभक्तिमें जो भी धर्म बाधक हों, उनको अधर्म जानकर त्याग देना चाहिये। यथा—*'तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी। हरिहित गुरु बलि पति ब्रजबनितन्हि सो भये मुदमंगलकारी॥'* (वि० १७४) वसुदेवने कंसको पुत्र देनेका वचन दिया था पर पुत्रको नन्दके घर पहुँचा दिया और उसके बदले कन्या देकर कंसको ठगा, इससे उनको कोई दोष न लगा। क्योंकि भगवान्‌का वचन है कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'''** (गीता)। (वै०) वा, (३) उनका मन पीपलके पत्तेकी तरह आगा-पीछा कर रहा है। कभी धर्ममें जाते हैं, कभी स्नेहमें। जब धर्मकी ओर जाते हैं तब चुप लगाकर शिवजीपर ले जाते हैं कि हम अपने मुँहसे न कहें और जब स्नेहमें जाते हैं तब कहते हैं कि श्रीरामजी वनको न जायँ। जैसे पीपलका पत्ता शीघ्रतासे आगे-पीछे डोलता है, उसी तरह राजाका मन आगा-पीछा कर रहा है। (नं० प०) पीपलके पत्तेकी डंठी व डाँड़ी लम्बी, निर्बल और हलकी होती है। पत्ता सिरेपर भारी होता है। इस कारण थोड़ी ही वायुसे वह (ऊपरसे नीचेतक सभी पत्ते) हिलने लगता है। कभी-कभी बिना वायुके ही हिलता रहता है। यह गुण और किसी वृक्षमें नहीं है, जैसा कहा है—*'पीपरके पान हाथीके कान, पंडितकी जबान डोलते ही रहैं'* वैसे ही राजाका धर्मसंयुक्त मन गरिष्ठ है और रामचन्द्रजीके घरमें रहनेका संकल्प निर्बल है, अतएव पराधीन होनेके कारण अधिक काँपता है। (पं०)

नोट—३ (वि० त्रि०)—*'पीपर पात·····।'* जब कोई बात मनमें स्थिर होती है, तब बोली जाती है। यहाँ कोई बात स्थिर होती नहीं, कहें क्या? अतः मनमें विचार कर रहे हैं, बोलते नहीं। मनकी यह गति है कि वह पीपलका पत्ता हो रहा है। पीपलका नाम ही चलदल है, उसके पत्ते सदा चलायमान रहते हैं, एक स्थितिपर आते ही नहीं। इसी भाँति महाराजका मन अति विकलताके कारण कहीं ठहरता ही नहीं। दो-एक उदाहरण देकर उसकी अस्थिरता दिखायी। पहिले यह सोचा कि ब्रह्मदेव विमुख हो गये हैं, तभी कैकेयी-सी विश्वासपात्र रानी विमुख हो गयी। यथा—*'भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोई।'* अतः रूठे हुए विधिको मनाना चाहिये जिसमें रामजी वन न जायँ। फिर वहाँसे भी मन हटा कि ब्रह्मा न सुनेंगे, मैं तो उनसे मनाता ही रहा कि सबेरा न हो, यथा—*'बिधिहि मनाव भोर जनि होई'* पर सबेरा हो ही गया। यह विधि है, विधानसे काम करते हैं। अतः वहाँसे भी मन हटा। विष्णुकी भी वही गति है, यथा—*'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥'* एक शङ्कर अवढरदानी हैं। वृकासुरको भी वर दिया। ये बिना सोचे-विचारे वर देते हैं, बड़े दयालु हैं। *'अवढर दानि द्रवत पुनि थोरें। सकत न देखि दीन कर जोरें॥'* ये सुन लेवेंगे, अतः उनकी विनती करने लगे कि *'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहि देहु। बचन मोर तजि रहहिं गृह परिहरि सील सनेहु॥'* यहाँ भी मन न ठहरा। सोचने लगे कि शङ्करजी कहेंगे कि रामजीकी बुद्धिको वचन छोड़नेके लिये क्यों पलटें। तुम्हारी बुद्धिको ही पलट दें कि तुम वचन छोड़नेमें समर्थ हो जाओ तब कहते हैं, *'अजसु होहु जग सुजसु नसाऊ'* इत्यादि। इस भाँति मनकी दशा पीपलके पत्ते-सी हो गयी। कहीं स्थिरता नहीं।

टिप्पणी—२ (क) *'रघुपति पितहि प्रेम बस जानी'* अर्थात् पिता हमपर प्रेम करते हैं और कैकेयीको यह अच्छा नहीं लगता कि राम तो वन जानेको तैयार हैं और ये प्रेमवश जाने नहीं देते। (ख) *'पुनि कछु कहिहि'* अर्थात् क्रोधसे वह फिर कुछ कटु वचन कहना ही चाहती है, अतः वे बोले जिसमें वह कुछ कहने न पावे। फिर भी आगे उसने कहा ही है, यथा—*'नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥ अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा॥'* (७९। ३—५) ये ही कटु वचन हैं जो राजाको बाण-से लगे, यथा—*'भूपहि बचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥'* (७९। ६)

नोट—४ *'देश काल अवसर'''* इति। देश यह कि इस समय कोप-भवन शोकागारमें हैं, इसलिये बिना आज्ञाके अपनेसे कहने लगे। काल यह कि पिताजी इस समय बहुत कष्टमें हैं। वर दे चुके हैं, उसके अनुसार शीघ्र ही वनको चल देना चाहिये। अतः शीघ्र थोड़े ही शब्दोंमें आश्वासन दे देना उचित है—यह अवसर है। विशेष (४६। ५) में देखिये। बैजनाथजीका मत है कि राजा अपनी प्रभुता त्यागकर प्रेमवश रानीके अनुकूल हैं और कैकेयी वामाङ्गी होकर पातिव्रत्यको त्यागकर प्रतिकूल हो रही है। अयोध्या देशमें यह विषमकाल आ गया है, यह जानकर समयके योग्य नम्र वचन बोले।

तात कहौं कछु करौं ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई॥६॥
अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा॥७॥
देखि गोसाँइहि पूछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भये सीतल गाता॥८॥

शब्दार्थ—**'ढिठाई'**=धृष्टता। **गोसाई**=स्वामी, सरकार, आप (यह कहनेका ढंग है)।

अर्थ—हे तात! मैं कुछ कहता हूँ [यह] ढिठाई करता हूँ। इस अनुचितको मेरा लड़कपन समझकर क्षमा कीजियेगा॥६॥ अत्यन्त तुच्छ (बहुत जरा-सी) बातके लिये आपने दुःख पाया, प्रथम ही (यह प्रसङ्ग) कहकर किसीने मुझे जनाया नहीं॥७॥ आपको (दुःखी) देखकर मैंने मातासे पूछा। सब प्रसङ्गको सुनकर शरीर शीतल हुआ॥८॥

नोट—१ *'करौं ढिठाई'*—बिना पूछे कुछ कहना और पिताको समझाना ढिठाई है, अनुचित है। *'जानि लरिकाई'* अर्थात् मैं आपको समझाता नहीं हूँ, लड़कपनके स्वभावसे ऐसा कहता हूँ, लड़के अज्ञान होते हैं। आप मुझे शिशु समझकर क्षमा कीजियेगा। (पु० रा० कु०, पंजाबी)

नोट—२ *'अति लघु बात'''* इति। १४ वर्षका वनवास इसको *'अति लघु'* कहा, जिसमें पिताका दुःख दूर हो। पिता समझते हैं कि रामजीको वनमें बड़ा क्लेश होगा। इसीसे दुःखी हैं। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ बराबर होनेसे यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग्य है कि इसमें कौन-सी कठिनता है जिसके लिये आप अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं। (वीर) अ० रा० में भी कहा है **'किमत्र दुःखेन विभो राज्यं शासतु मेऽनुजः।'** (२। ३। ७३) *'काहु न प्रथम जनावा'* अर्थात् किसीने भी कहा होता तो मैं आकर आपसे कह देता कि मुझे वनमें कुछ भी क्लेश न होगा, आप दुःखी न हों—यही बात आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

नोट—३ *'देखि गोसाँइहि पूछिउँ माता।'* इति। (क) देखि अर्थात् आपको अत्यन्त व्याकुल देखकर, यथा—*'जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाज।'* (३९) तब मातासे पूछा, उसने सब प्रसङ्ग सुनाया; यथा—*'पूछी मधुर बचन महतारी', 'सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।'* (४१। ४) *'पूछिउँ माता'* भाव कि मैंने पूछा तब उन्होंने बताया, अपनेसे उन्होंने भी न बताया था। इस प्रकार माताको वनवासकी खबर देनेके दोषसे बचाते हैं। (पंजाबीजी) (ख) *'भये सीतल गाता'* अर्थात् प्रसङ्ग मालूम होनेके पूर्व हमारे गात जलने लगे थे, हम दुःखी हो गये थे यथा—*'अंबु एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायक देखी॥'* (पु० रा० कु०) मातासे मालूम हुआ कि आपने उनको वर दिया है, यह सुनकर गात शीतल हुए कि माता और पिता दोनोंकी आज्ञा हमें पालन करनेको मिली, हमारा बड़ा भाग्य है।

दो०—मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ* तात।
आयसु देइअ हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात॥ ४५॥

अर्थ—हे तात! इस मङ्गलके समय स्नेहवश हो सोच करना छोड़िये। हृदयसे प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये। यह कहते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका सारा शरीर पुलकित हो गया॥ ४५॥

नोट—१ पुत्रको वनवास हुआ। इसको सबके लिये मङ्गल-समय कैसे कहा? उत्तर—पुत्र यदि पिताका आज्ञाकारी हो तो पिताके लिये मङ्गलका ही समय होता है। जब पिताका ऋण उतारनेका अवसर मिलनेपर पुत्र उस ऋणसे पिताको मुक्त करनेको तैयार हो तथा अपना भी पितृऋण उससे समाप्त होता हो तो इससे बढ़कर मङ्गल-समय उसके लिये क्या हो सकता है? इसीसे तो परमहंस श्रीशुकदेवजीने इस गुणके साथ उनको 'महापुरुष' कहकर उनकी वन्दना की है। यथा—'**त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।''''''वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥**' (भा० ११। ५। ३४)

नोट—२ (क) पिताकी आज्ञाका पालन यह हमारे लिये परम धर्म है, अतएव यह मङ्गलका समय है। आपके वचनोंका प्रतिपालन होगा, यह आपके लिये मङ्गल है। पुनः पुत्र पिताके ऋणसे और आप कैकेयीके ऋणसे उऋण होते हैं। कैकेयीका भी मङ्गल-समय है क्योंकि जो वह चाहती है, वही हो रहा है। † मङ्गलके समय स्नेहवश होकर सोच न करना चाहिये वरन् हर्ष और उत्साह होना चाहिये। अतएव सोच छोड़नेको कहा। (ख) *'कहि पुलके प्रभु गात'*—भाव कि श्रीरामजीने वन जानेको मुखहीसे नहीं कहा; किंतु उनके हृदयमें वन जानेका उत्साह है, पुलकावलिसे भीतरका हर्ष जनाया। (पु० रा० कु०) '**प्रभु**' अर्थात् इन वचनोंके पालनमें आप समर्थ हैं, दूसरा कौन पाल सकता है?

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥ १॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥ २॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**धन्य**=सार्थक, कृतार्थ, सफल। **जगतीतल**=(जगती=पृथ्वी, तल=पर) संसारमें। **करतल**=हथेली। **रजाई**=आज्ञा, हुक्म—*'चले सीस धरि राम रजाई।'* (३१८। ७), *'राम रजाइ सीस सबहीके।'* (२५४। ८) गौड़जी कहते हैं कि '**रजाई**' शब्दका मूलरूप राज्यादेश है। राज्यादेशका ही प्राकृतरूप '**रजायेसु**' है। *'रजायेसु देहु' 'रजायेसु पाई'* आदि बहुत आये हैं। '**रजा**' का भी सम्बन्ध हो सकता है। परंतु 'रजायसु' से '**रजाई**' बन जाना अधिक स्वाभाविक है। यह अरबी 'रजा' शब्द है।

अर्थ—पृथ्वीतलपर उसीका जन्म धन्य है, जिसके चरित सुनकर पिताको अतीव आनन्द हो॥ १॥ चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) उसकी हथेलीमें हैं जिसे पिता-माता प्राणके समान प्रिय हैं॥ २॥ आपकी आज्ञाका पालनकर, जन्म-(लेने-) का फल पाकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, अतः शीघ्र आज्ञा दें॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू'*—भाव कि आपकी आज्ञाके पालनमें मुझे उत्साह है, अतः, आपको अतीव हर्ष होना चाहिये, आपके हर्षसे मेरा जन्म धन्य होगा। श्रीरामचन्द्रजीका सुयश सुनकर राजाको हर्ष होता ही है, यथा—*'राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि*

---

* 'परिहरी'—(पं० रामगु०, वंदन पाठकजी)

† पंडितजी—(१) पृथ्वीका भार उतरेगा, रावणादिका वध होगा, इससे देवताओं, ऋषियों किंतु त्रैलोक्यका मङ्गल होगा। वे सब सुखी होंगे। इसीलिये मेरा अवतार हुआ है। अब उसका समय आ गया। (यह भाव सम्भवतः अ० रा० के 'देवकार्यं चापि भविष्यति।' (२। ३। ७५) के आधारपर कहा गया है। पर मानसके राम वात्सल्यमें पगे हुए पितासे ऐसा न कहेंगे।) (२) ८८ हजार ऋषि इस चरित्रको और आपके सत्यको गावेंगे-सुनेंगे। अतएव मङ्गल-समय है। वन्दन पाठकजी—अथवा आपकी अमरावती यात्रा है अतएव।

राऊ॥' (२। १। ८) (ख)'*चारि पदारथ करतल ताकें।*"'—भाव कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंकी प्राप्ति अगम है, पर माता-पिताकी भक्तिसे ये भी अति सुगम हो जाते हैं मानो हाथमें प्राप्त हैं। पहले चारों पदार्थोंका हाथमें आना कहा, तब माता-पिताका 'प्राणसम' प्रिय होना कहा, भाव कि (पुत्रको) इन चारोंकी प्राप्ति भी माता-पिताके समान प्रिय नहीं होनी चाहिये। माता-पिता प्राणके समान प्रिय हैं अर्थात् प्राणसे अधिक कोई वस्तु प्रिय नहीं होती है, वैसे ही चारों पदार्थ भी इसको प्रिय न हों। तात्पर्य कि साधनमें प्रीति है, फलमें प्रीति नहीं है। फलकी प्राप्ति पहले और साधनको पीछे कहकर जनाया कि माता-पिताकी भक्ति करनेसे चारों पदार्थ मानो प्रथमसे ही प्राप्त रहे हैं। (अर्थान्तरन्यास अलंकार)☞यहाँ प्रभु आचरणद्वारा संसारके पुत्रोंको उपदेश दे रहे हैं।

टिप्पणी—२'*आयसु पालि जनम फलु पाई*"""।' इति। जन्मका फल धर्मसे होता है। आयसु-पालन बड़ा धर्म है, यथा—'*पितु आयसु सब धरम क टीका।*' (५५। ८) आज्ञा-पालन करके शीघ्र आऊँगा अर्थात् एक दिन भी अधिक वनमें न रहूँगा। 'आज्ञा हो' अर्थात् हमारे जन्मको सुफल कीजिये। '*आयसु पालि*' कहकर आज्ञा-पालनमें अपनी श्रद्धा दिखायी। (यह पिताके संतोषार्थ कहा, अब माताको संतोष देने जाते हैं (रा० प्र०)। जानेकी बात कहकर तुरत लौटनेकी बात कहना 'चपलातिशयोक्ति' है।)

बिदा मातु सन आवौं माँगी। चलिहौं बनहि बहुरि पग लागी॥४॥
अस कहि राम गवनु तब कीन्हा। भूप सोकबस उतरु न दीन्हा॥५॥

अर्थ—मातासे विदा माँग आऊँ फिर आपके पैर लगकर अर्थात् चरणोंपर माथा नवाकर वनको चल दूँगा॥४॥ ऐसा कहकर तब श्रीरामचन्द्रजी वहाँसे चल दिये। राजाने शोकवश होनेके कारण कुछ उत्तर न दिया॥५॥

टिप्पणी—१ '*बिदा मातु सन*"""' इति (क) मातासे आज्ञा ले आऊँ, इस कथनसे सूचित होता है कि उनको निश्चय है कि वे वन जानेकी आज्ञा दे देंगी। माताको अलौकिक ज्ञान है, यथा—'*मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥*' (१। १५१) (ख) '*बहुरि पग लागी।*' 'बहुरि'-क्योंकि एक बार प्रणाम कर चुके हैं, यथा—'*चरन परत नृप राम निहारे।*' (४४। २) पुनः भाव कि रामजीने पितासे दो बार आज्ञा माँगी, यथा—'*आयसु देइअ हरषि हिय कहि पुलके*"""' और '*ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई।*' पिताने आज्ञा नहीं दी; इसीसे पुनः आनेको कहते हैं। यदि आज्ञा दे दी होती तो फिर यहाँ आनेका कुछ प्रयोजन न था। [वनसाज मुनिवेष यहींसे करके चलना है। वल्कल वस्त्रादि कैकेयीसे ही मिलने हैं। अतः यहाँ फिर आनेका प्रयोजन है।] कैकेयीके संतोषके लिये उसके सामने ही तपस्वीवेष धरकर चलेंगे। उसकी यही प्रतिज्ञा है—'*होत प्रात मुनिबेष धरि जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन*"' (३३)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'*आयसु पालि*"""*पग लागी*' इति। जो पुत्र पिताके जीवनमें उनके वाक्यका पालन करे, मरनेपर, मरण-तिथिपर भोजन करावे और गयामें पिण्डदान करे वही पुत्र है। '**जीविते वाक्यकरणाच्च क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानैश्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥**' यावज्जीवन पिताके वचन माननेमें पुत्रकी पुत्रता है। अथवा पुं नाम नरकका है, उससे जो उद्धार करे वही पुत्र है। इसलिये रामजी कहते हैं कि आपके आज्ञा-पालनमें मेरे जन्मका साफल्य है। मैं वन नहीं जाता हूँ, अपना जन्म सफल करने जा रहा हूँ। लौटनेमें एक दिनका विलम्ब न होगा। मैं बात सब जान गया, फिर भी राजाज्ञा होनी चाहिये। बातके जान लेनेपर भी राजाज्ञाकी अपेक्षा रहती है।

महाराजकी ओरसे कोई उत्तर न पाकर रामजी कहते हैं कि '*बिदा मातु सन आवौं माँगी*' मैं माँसे विदा माँगकर आता हूँ। भाव यह कि माताका स्नेह बच्चोंपर अधिक होता है अतः यदि मैं मातासे आज्ञा ले आऊँ, तब तो आपको आज्ञा देनेमें सङ्कोच न होना चाहिये। अतः मातासे आज्ञा लेकर फिर प्रणाम करने यहाँ आऊँगा। तत्पश्चात् वनको जाऊँगा। विश्वामित्रके साथ जानेमें ऐसा नहीं किया। '*जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस।*' क्योंकि उस समय महाराजने आज्ञा दे दी थी; यथा—'*सौंपे भूप रिषिहि*

सुत बहु बिधि देइ असीस।' इस बार महाराज अति शोकाकुल हैं, बोलनेको भी असमर्थ हैं। अतः शोकके वेगके रोकनेके लिये समय दे रहे हैं, तथा उसके वेगको कम करनेके लिये पहिले ही माताकी आज्ञा प्राप्त करने जा रहे हैं।

टिप्पणी—(क) *'अस कहि'* इति। भाव कि यदि श्रीरामजी ऐसा कहकर न जाते तो राजाको बड़ा दुःख होता कि हम तो व्याकुल थे, शोकवश कुछ बोल न सके तब भी रामजी हमको छोड़कर चल दिये। ऐसा समझनेसे अधिक शोक होता, वे तुरत ही मर जाते। अतएव कहकर चले कि फिर आऊँगा। इससे उन्हें आशा बनी है कि अभी फिर आवेंगे। अथवा राजाके कुछ न बोलनेपर यदि वे उत्तरके लिये बैठे रहते तो कैकेयी समझती कि इनके चित्तमें है कि राजा हमें रहनेको कह दें, जानेको रोक दें; अतः उसके इस संदेहके निवारणार्थ वे उठ खड़े हुए और यह कहकर चल दिये कि मातासे आज्ञा लेकर आता हूँ। (पं०) (ख) *'भूप सोकबस उतरु न दीन्हा'* अर्थात् उत्तर देनेकी इच्छा थी। जैसे आगे वनगमनके समय उत्तर दिया है—*'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।'''''* इत्यादि, वैसे ही यहाँ भी देते, पर शोकके वश बोल न सके, अतः उत्तर न दिया।

पंजाबीजी—श्रीरामचन्द्रजी *'देश काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥'* इनके वचनोंमें कौन देशके और कौन काल इत्यादिके हैं? उत्तर—१ राजा यदि सिंहासनासीन दरबारमें होते तो बिना पूछे वचन न कहते। पर यहाँ खेद-गृह हैं, शोक-भवन हैं, अतः बिना पूछे बोले और धृष्टता की। यह देशानुसार हुआ। २—थोड़ी-सी बातके लिये इतना दुःख उठाया, पहले ही कहला भेजा होता। ये वचन दुःख-कालके शान्त करनेवाले हैं। यह कालानुसार हुआ। ३—*'देखि गुसाँइहि पूछिउँ''''* से *'आयसु देइय हरषि हिय'* यहाँतक अवसरके अनुसार वचन हुए। ४—*'धन्य जनम जगतीतल तासू'* से *'प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके'* ये नीतिके वचन हैं और इसके आगे पिताको धीरज देनेका वाक्य है। (नोट—इन्होंने विनीतका अर्थ विशेष नीति किया है। उसीके अनुसार ये भाव कहे हैं। विनीतका अर्थ विनम्र है और रघुनाथजीके सभी वचन अति नम्र हैं ही।)

नृपवचन और राजरस-भंग-प्रकरण समाप्त हुआ

''पुरवासि-विरह-विषाद''—प्रकरण

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥६॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥७॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥८॥

शब्दार्थ—**'ब्यापि गइ'**=व्याप्त हो गयी, फैल गयी—व्यापना अकर्मक क्रिया है। **'सुतीछी'**=बहुत तीक्ष्ण, बड़ी तीखी। तीक्ष्ण वा तीखी बात वह है जो सुननेमें अप्रिय, कटु और असह्य हो। **'चढ़ी'**=किसी वस्तुका बुरा और उद्वेगजनक प्रभाव होना 'चढ़ना' कहलाता है; जैसे विष चढ़ना, नशा चढ़ना, ज्वर चढ़ना।' 'बीछी चढ़ी' अर्थात् उसके डंकका असर व्याप्त हो गया। **'दवारी'**=दवाग्नि=वनमें लगनेवाली आग। **'दव'**=वन, वनाग्नि, यथा—*'मृगी देखि जनु दव चहुँ ओरा।'*

अर्थ—वह बड़ी ही तीखी बात नगरभरमें इतनी शीघ्रतासे फैल गयी मानो बिच्छूका डंक लगते ही सारे शरीरमें बिच्छी (अर्थात् उसका विष) चढ़ गयी॥६॥ सब स्त्री-पुरुष सुनकर व्याकुल हो गये जैसे दावानल देखकर लताएँ और वृक्ष व्याकुल हो जाते हैं, अर्थात् मुरझा जाते हैं॥७॥ जो जहाँ ही सुनता है, वह वहीं सिर धुनने (पीटने) लगता है। बड़ा दुःख है, किसी प्रकार धीरज नहीं होता॥८॥

'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।'''''' इति।

१—*सुतीछी*=अत्यन्त तीक्ष्ण। साँपकी उगली हुई बिच्छी बड़ी ही तीक्ष्ण होती है। यहाँ कैकेयी सर्पिणी

है, यथा—'*दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।*' (२५ छंद) उसकी कही हुई बात साँपिनीकी उगली बीछी है। तीक्ष्ण बात बिच्छी है और सुतीक्ष्ण बात उगली हुई बिच्छी है। उसने राजाको काटा। प्रजा राजाका अङ्ग है। सब अङ्गमें बीछी चढ़ गयी अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बात सुनकर सब प्रजा व्याकुल हो गयी, जैसे आगे लिखते ही हैं। (पु० रा० कु०) बैजनाथजीके मतानुसार कैकेयी बीछी है, उसका वचन डंक है, भूप थल हैं, एक स्थलमें लगते ही सारे शरीररूपी नगरमें विष फैल गया।

२—बड़े विषैले बिच्छूके डंक मारते ही सारे शरीरमें उसका विष तुरत दौड़ जाता है, वैसे ही कैकेयीके वनवासवाले वरदानकी बात सारे नगरमें बात-की-बातमें फैल गयी, कुछ देर न लगी। श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ बाहर आये। सुमन्त्रजीसे द्वारपर जो भीड़ थी उसको मालूम हुई, बस इनसे एक-दूसरेद्वारा नगरभरमें फैल गयी। (यहाँ उक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा है।)

३—पण्डितजी लिखते हैं कि इस कथनसे यह भी जनाते हैं कि घाव नहीं देख पड़ता पर व्यथा बड़ी तीव्र है। अथवा वनमें एक '**सुतीछी**' होती है, वह जब किसीको काटती है तब उसको तो चढ़ती ही है और जो-जो उसे छूते हैं, उनको-उनको भी बीछीकी-सी चढ़ जाती है। ☞विशेष आगे श्रीगौड़जीकी टिप्पणी देखिये।

टिप्पणी—१ '*सुनि भए बिकल नर नारी।*…' इति। बातकी तीक्ष्णता दिखलाते हैं। ऐसी तीक्ष्ण है कि सुनतेमात्र सब व्याकुल हो गये। यहाँ नरको विटप और नारीको बेलिसे उपमा दी है। दव लगनेसे बेलि और विटप झुलस जाते हैं। दावाग्निसे जले हुए बेलि-वृक्षोंमें फिर पत्ते लगते हैं, वैसे ही श्रीरामजीके आनेपर स्त्री-पुरुष सुखी होंगे। बेलि-विटपकी उपमा देनेका भाव कि जैसे ये जड़ हैं, वैसे ही अवधवासी तीक्ष्ण बात सुनकर व्याकुलतासे जड़वत् हो गये। दावानल लगनेसे बेलि-विटप काले पड़ जाते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण बिच्छूके डंक मारनेसे शरीर काला हो जाता है।

तीक्ष्ण बातकी दवाग्निसे उपमा दी। तात्पर्य कि तीक्ष्ण बात अग्निके समान है। वही बिच्छी है। बिच्छीका जहर आगके समान दाहक होता है।

प्रश्न—बेलि-विटपके आँख नहीं है, तब दावाग्निका देखना कैसे कहा। उत्तर—बेलि-विटपके अभिमानी देवता चेतन हैं, उनके आँख है, वे देखते हैं। इसीसे देखना कहा, यथा—'*बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥ कामरूप सुंदर तनधारी। सहित समाज सहित बरनारी॥ आए सकल तुहिनाचल गेहा।*' (१। ९४। ४—६) देखिये।

गौड़जी—बेलि-विटप स्थावर प्राणी हैं, अचर हैं, जब विपत्ति एकदम पास आ जाती है, तब उन्हें उसके आनेका पता लगता है। वह बेचारे भागकर बच नहीं सकते। इसलिये विपत्तिके बिलकुल सिरपर आ जानेसे पहले उसे देखकर ही मुरझा जाते हैं, मूर्छित हो जाते हैं। जब जंगलमें आग लगती है, तब दूर-दूरपरकी लताएँ और वृक्ष भयसे सूख जाते हैं। (अग्निको जलानेमें इस कारण और भी सुगमता हो जाती है।) यहाँ अयोध्याके नर-नारी आनेवाली विपत्तिका, श्रीराम-वियोगका अनुमान करके ही विकल हो गये। विकलता इसलिये भी अधिक है कि हम इस विपत्तिसे बच नहीं सकते। पिता-पुत्र दोनों ही कठिन सत्यव्रती हैं, इसका विश्वास ही निराशाका कारण है कि विपत्ति टल ही नहीं सकती। पिछली अर्धालीमें अवध-नगर राजा अवधनाथका शरीर है, उसमें बिच्छूके डंकका वा सर्पका विष छूते ही चढ़ गया यह दिखाया गया। अर्थात् यह पीड़ाजनक खबर सारे नगरमें डंकके जहरकी तरह आनन-फाननमें फैल गयी। फैलती बेर तो वह तेज चुभनेवाली बीछी-सी थी, परंतु व्यापते ही उसने दावानलका रूप पकड़ लिया। उस विपत्तिके टलनेकी रत्तीभर सम्भावना न देखकर नर-नारी सब घबड़ा उठे। जो जहाँ सुनता था, सिर धुनता था। वह भारी विषाद फैल गया कि धैर्य स्वयं अधीर हो गया। मुँह सूख गये और आँखोंकी राह आँसू होकर शोक बह निकला; क्योंकि हियेमें समा न सका, इतना ज्यादा है।

वि० त्रि०—'*सुनि भए बिकल*……*दवारी*' इति। श्रीरामजी वनको जाना चाहते हैं, यह सुनकर नर-

नारी विकल हो गये। जैसे दावानल आया चाहता है, यह देखकर बेलि-विटप जिस भाँति मुरझा जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या बेलि-विटप दावाग्निको देख सकते हैं? उत्तर है कि हाँ, देख सकते हैं। महाभारतमें कारण देखकर बतलाया गया है, **'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः। तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः॥'** पेड़ देखते हैं, पेड़ सुनते हैं इत्यादि। जड़ विज्ञान भी अब यह मानने लगा है। जब नर-नारी कहा तब उपमा देते समय विटप-बेलि कहना चाहता था। 'बेलि-विटप' क्यों कहा? बात यह है कि श्रीरामजीके वनगमनका समाचार पहिले पुरुषोंको मिला। स्त्रियोंने पीछे जाना, अतः नर-नारी कहा और कोमल होनेसे पहिले बेलियाँ (बेलें) विकल हुईं, पीछे विटप विकल हुए, अतः बेलि-विटप कहा। जिसने सुना, वह वहीं स्तब्ध हो गया, इसलिये जड़से उपमा दिया।

टिप्पणी—*'जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई।'''* इति। (क) जैसे दावाग्नि देखकर बेल-विटप कहीं जा नहीं सकते, वैसे ही तीक्ष्ण बात सुनकर स्त्री-पुरुष जो जहाँ हैं, वहीं माथा पीटने लगते हैं, कहीं भागकर जा नहीं सकते, क्योंकि अभी श्रीरामजी अवधमें हैं, उन्हें छोड़कर कहाँ भागकर जायँ। जब श्रीरामजी वनको चले तब दावाग्नि देखकर प्रजाका भागना लिखते हैं, यथा—*'बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'* (८४। ३-४) अतएव यहाँ जड़ वृक्ष-बेलोंसे उपमा दी और आगे वनगमनके समय उनको खग-मृगोंसे उपमित किया है, यथा—*'खग मृग बिपुल सकल नर नारी।'* (८४। २) [**'धुनइ सिर'**—सिर पीटते हैं, मानो अपनी आयुकी रेखा मिटाते हैं कि शीघ्र मर जायँ (रा० प्र०)। अर्थात् हमारे भाग्य फूट गये। शोकमें ऐसा स्वाभाविक लोगोंसे होता है।]

दो०—मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।
मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥ ४६॥

शब्दार्थ—**स्त्रवहिं**=जल बहाते हैं, टपकते हैं। **कटकई**=सेना।

अर्थ—(सब लोगोंके) मुख सूख रहे हैं, आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं, शोक हृदयमें नहीं समाता। मानो करुणारसकी सेना अवधपर डंका बजाकर चढ़ आयी है। अर्थात् दुःखने सबको जीत लिया है, आनन्द परास्त हो गया॥ ४६॥

नोट—१ ऊपर कहा कि *'बड़ बिषाद नहिं धीरजु होई',* अब दिखाते हैं कि जब धैर्य नहीं होता, तब क्या दशा होती है—मुख सूख जाता है, अश्रुपात होते हैं इत्यादि।

गौड़जी—प्रत्येक प्राणीके सूक्ष्म शरीरमें स्थायीरूपसे प्रेम, घृणा, क्रोध, भय आदि भाव सूक्ष्मरूपमें बने रहते हैं। इन्हें स्थायीभाव कहते हैं। स्थायीभाव वैष्णव कवियोंने यह माने हैं—शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, घृणा, विनोद, रति-निर्वेद, साहचर्य, अनुक्रिया और अनुराग। यह हृदयमें छिपे रहते हैं। किसी विशेष घटनाके सहारे यह भाव उठते हैं। उस घटनाको आलम्बन-विभाव कहते हैं। उस घटनाकी आनुषङ्गिक सामग्री पाकर यह भाव उद्दीप्त हो जाते हैं। इस सामग्रीको उद्दीपन-विभाव कहते हैं। स्थायीभाव आलम्बन-विभावका हृदयमें ध्यान होनेसे जगता है, उद्दीपन-विभावसे उद्दीप्त हो जाता है, तब स्थायीभावके उद्दीपनके अनुगत सात्त्विक-भाव देख पड़ते हैं अर्थात् शरीरमें उस स्थायीभावके लक्षण प्रकट होते हैं। फिर कुछ ऐसे भाव भी साथ-साथ पैदा हो जाते हैं जो अनेक स्थायीभावोंमें उसके उद्दीपनके समय संचरण करते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं। इन्हें संचारी-भाव कहते हैं। स्थायी, सात्त्विक और संचारी-भावों और दोनों विभावोंके सामंजस्यपूर्वक पूर्तिसे स्थायीभावजन्य रसकी पूर्ति होती है। यहाँ शोक स्थायीभाव है। श्रीरामजीसे आसन्न वियोग आलम्बन है। कैकेयीका वर माँगना, राजाका वाग्बद्ध होना, श्रीरघुनाथजीका वनगमनके लिये तैयार हो जाना आदि बातोंका समाचार तथा श्रीरामजीके अलौकिक गुण उद्दीपन-विभाव हैं। नर-नारीका सिर धुनना, मुख सूखना, आँसू गिराना आदि अनुभाव या सात्त्विक भाव हैं। मोह, ग्लानि, विषाद, अपस्मार,

चिन्ता, उन्माद आदि संचारीभाव हैं। इन सबको मिलाकर करुणारसकी पूर्ति होती है। यहाँ सारी अयोध्या करुणा-रसमें डूब गयी है, सो मानो करुणा-रस डंका बजाकर अपनी फौज लेकर अवधपर चढ़ाई करनेको आ उतरा है। इसके डरसे आमोद-प्रमोद भाग गये। ऊपर जो बारह स्थायीभाव गिनाये हैं उनके रस क्रमसे यह हैं—करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, हास्य, शृङ्गार, शान्त, सख्य, दास्य और वात्सल्य।

नोट—२ करुणारसकी सेनाका डंका बजाकर अवधपर चढ़ आना कहा है। चतुरङ्गिणी सेनामें गज, रथ, घोड़े और पैदल होते हैं। यहाँ वे क्या हैं? उत्तर—(क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'रामवियोग-विभाव है' यही गज है। रुदन, प्रलाप, मूर्छा, ऊर्ध्वश्वास आदि अनुभाव घोड़े हैं। भ्रम, शङ्का, उन्माद, जड़ता, दैन्य, अश्रु, स्वरभङ्ग आदि संचारी पैदल हैं और अत्यन्त शोक स्थायी रथ है। शीघ्र ही दुःख व्याप्त हो गया यही डंकाका शब्द है। यावत् प्रियमिलनकी आशा है, तावत् विप्रलम्भ है। मिलनेकी आशा नहीं रह जानेसे करुणारस हुआ। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'मुख सूखना', 'अश्रुपात होना' इत्यादि कटकका स्वरूप है। ऊँचे शब्दसे हाहाकार करना नगाड़ोंका बजना है।

नोट—३ '**मानस मयङ्क**'— 'कटकई' रचे हुए व्यूहको कहते हैं। भाव यह कि करुणारस चारों प्रकारके व्यूहोंसे सज्जित सेनाको साथ लेकर उतरा है। अर्थात् (१) करुणा (२) अतिकरुणा (३) महाकरुणा और (४) लघुकरुणा क्रमसे (१) संडाव्यूह (२) गरुड़ाव्यूह (३) नराव्यूह और (४) चक्राव्यूह हैं। और कटकईके पूर्व मूलमें लिखा है—*'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं'*, यह मानो करुणारसका विकराल पाँचवाँ दल है। ऐसे साज-समाजसंयुक्त करुणारस अवधको पीड़ित करनेको उतरा है।

वन्दनपाठकजी—*'बजाइ'* अर्थात् नगाड़ा बजाकर वा ललकारकर। करुणारस-कटकने आनन्दकटकको परास्त कर दिया जो जन्म, विवाह आदिसे आ जुड़े थे।

मिलेहि माँझ बिधि बात बेगारी। जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी॥ १॥
एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ॥ २॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा॥ ३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी॥ ४॥
पालव बैठि पेड़ एहि काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥ ५॥

शब्दार्थ—**मिलेहि माँझ**=मेलहीमें। **काढ़ि**=निकालकर। **डारि**=फेंककर, गिराकर। **चीखना**=स्वाद लेना, चखना। **बेनु** (बेण)=बाँस। **पालव**=पल्लव। नये निकले हुए कोमल पत्तोंका समूह या गुच्छा; टहनीमें लगे हुए नये-नये कोमल पत्ते जो प्रायः लाल होते हैं; कल्ला। **ठाटा**=रचा, खड़ा किया, संयोजित किया, ठाना। ठाट (सं० स्थातृ=खड़ा होनेवाला)=समाज, सामान।

अर्थ—मेलमें ही ब्रह्माने बात बिगाड़ दी! जहाँ-तहाँ लोग कैकेयीको गाली देते हैं॥ १॥ इस पापिनीको क्या समझ पड़ा कि इसने छाये हुए घरपर आग रख दी॥ २॥ अपने हाथसे अपनी आँखें निकालकर देखना चाहती है। अमृतको फेंककर विष चखना चाहती है॥ ३॥ यह कुटिला, कठोर, दुर्बुद्धि और अभागिनी रघुवंशरूपी बाँसके वनके लिये अग्निरूप हुई अर्थात् नाश कर डाला॥ ४॥ पल्लवपर बैठकर इसने पेड़को काटा, सुखमें इसने शोकका ठाट बनाकर खड़ा कर दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *मिलेहि माँझ*=मेलहीमें। *माँझ*=बीचमें। मेलहीमें बिगाड़ हो गया। राजा, रानी, पुत्र सबमें मेल था, किंचित् विरोध न था, सबमें परस्पर प्रीति थी, मेल रहते हुए ही ब्रह्माने बात बिगाड़ दी। यथा—*'अमर नाग मुनि मनुज सपरिजन बिगत बिषाद गलानी। मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी॥'* (गी० बा० ४) पापिनि, कुटिल, कठोर इत्यादि बनाना ही गाली देना है।

नोट—१ *'एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ।'* इति (क) इस कथनसे सूचित हुआ कि सबको आश्चर्य हो रहा है कि कैकेयीको क्या हो गया, वह ऐसी कुटिला कैसे हो गयी? आगे इसका कारण उसका

दुर्भाग्य बताते हैं। (प० प० प्र०) (ख) कैकेयीको पापिन कहा; क्योंकि इसका घरमें आग लगाना कहते हैं और आग लगानेवाला आततायी (वह पापी जिसके मार डालनेमें कोई दोष नहीं) कहा गया है, यथा—'**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः॥**' (वसिष्ठस्मृति ३। १९) अर्थात् घर जलानेको आया हुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला और स्त्री या खेतका हरणकर्ता—ये छः आततायी हैं। (ग) '*बूझि का परेऊ*'— अर्थात् इसको यह न सूझ पड़ा कि जिस घरकी छायामें रहना है, जिसमें समस्त सुखके पदार्थ भरे हुए हैं, उसमें आग लगानेसे सब कुछ जल जायगा, कुछ भी न बचेगा। इसे यह न सूझा कि जिन रामजीको मैंने जन्मसे पाल-पोसकर बड़ा किया; राज्य करने योग्य बनाया, उन्हींको राज्य देनेके समय राज्य न देकर वन भेज रही हूँ। (घ) '*छाइ भवन पर*……' इति। यहाँ भवन क्या है? छाना क्या है? अग्नि क्या है? उत्तर—राज्य छाया हुआ भवन है, जिसमें सब सुख प्राप्त होते। (पं० रा० कु०) श्रीरामजीका पालन-पोषण करके बड़ा करना और राज्य करने योग्य बनाना भवनका छाना है। (पं० रा० कु०) श्रीनंगे परमहंसजीके शब्दोंमें 'कैकेयीने जो बालपनसे श्रीरामजीका पालन किया है वही मकानका उठाना है। जैसे मकानके उठानेमें बहुत समय लगता है वैसे ही कैकेयीको बालपनसे लेकर कौमारावस्थातक पालन-पोषण करनेमें बहुत समय लगा है। मकान छाया जाता है तो उसमें समय कम लगता है, वैसे ही पाल-पोसकर बड़ा करनेपर कैकेयीने उनका विवाह किया जिसमें समय लगा पर कम। श्रीरामजीका श्रीजानकीजीसे विवाह कराके उनको घर लानेके पश्चात् कैकेयीको उनसे सुख उठाना चाहिये था।' अर्थात् परमहंसजीके मतानुसार श्रीरामजीका विवाह करना घरका छाना है। बाबा हरिदासजीका मत है कि कैकेयीका पूर्व राजासे इच्छा प्रकट करना कि श्रीरामजीको राज्य दे दीजिये, जैसा '*भामिनि भयउ तोर मन भावा।*' (२। २७-२) से स्पष्ट है, यह भवनका छाना है। राज्यतिलककी तैयारी हो चुकी थी, यही घरका छा जाना है। (आगे वि० त्रि० का टिप्पण भी देखिये।) पुरवासियोंके कथनका आशय यह है कि कैकेयीने रामजीको वनवास दे अयोध्याका नाश किया, जिससे सब सुख प्राप्त होते, उसी रामराज्यमें बाधक हुई इत्यादि; पर ऐसा सीधे-सीधे न कह उसका प्रतिबिम्बमात्र कहा कि घरको छाकर आग धर दी इत्यादि। यह 'ललित अलङ्कार' है। (वीरकवि)

नोट—२ (क) '*निज कर नयन काढ़ि चह दीखा*' इति। जैसे अपने नेत्रोंकी सुन्दरता सुनकर कोई मूर्ख उन्हें निकालकर अपने हाथपर धरकर उन्हें अपनी आँखोंसे देखना चाहे तो कैसे देख सकता है, जिससे देखता उन्हींको तो उसने निकाल लिया है। देखनेवाली इन्द्रिय ही नष्ट हो गयी तब अपने नेत्रोंका सौन्दर्य भी न देख सका और कुरूप भी हो गया। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी नेत्र हैं। कैकेयीने स्वयं ही वर माँगकर उनको वनवास दिया। यही नेत्रोंका अपने हाथसे निकाल लेना है। स्मरण रहे कि यह वर भी उसने हाथोंहीसे माँगा। यथा—'*माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥*' (२९। २) श्रीरामजीके श्रीअयोध्याजीमें रहनेसे सब सुख देखनेको मिलता। (अर्थात् राजा भरतजीको राज्य देनेको कहते ही थे, यथा—'*सुदिन सोधि सब साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई।*' (३१। ८) '*राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती।*' (३४। ८) '*जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेक।*' (३३) श्रीरामजी वनको न जाते तो राजा भी जीवित रहते, सम्भव था कि भरत राज्य ग्रहण करते और तब वह भरत-राज्यका सुख देखती) श्रीरामजीको वनवास देकर निकाल देनेसे अयोध्यामें अब कौन सुख देखनेको मिलेगा। भरतजीका राज्य देखना असम्भव है। विधवा होना और भरतजीका राज्य न ग्रहण करना तथा स्वयं भरतका एवं पुरवासियोंका उसे उलटी-सीधी सुनाना, यही कैकेयीका अंधा और कुरूप होना है। [पु० रा० कु०, रा० प्र०, पं० प्र०, प० प०, नं० प०, वै०] (कैकेयी परम सुन्दर थीं ही, अपने सौभाग्यका उन्हें गर्व था ही। इस सम्बन्धसे '*निज कर नयन*……' कथन बड़ा ही सुन्दर है। इनसे यह भी जनाया कि अब वह कलंकित हो गयी, उसका मुख देखनेसे भी लोग घृणा करेंगे और विधवा तो होगी ही। (प० प० प्र०) अपनी आँख निकालकर देखनेकी इच्छा करनेमें 'विचित्र अलङ्कार' है। पं० वि० त्रि० के टिप्पण आगे देखिये।

(ख) *'डारि सुधा बिषु चाहत चीखा'* इति। श्रीरामजी अमृत हैं और कैकेयीको प्राप्त हैं। उन्हें फेंककर अर्थात् वन देकर उसके अनिष्ट परिणाम राजाकी मृत्यु और अपना वैधव्यरूपी विष चखना चाहती है, उसका स्वाद लेना चाहती है अथवा, श्रीरामसंयोग अमृत और श्रीरामवियोग विष है। (पं०, वै०, रा० प्र०) अथवा, रामदर्शन अमृत है, भरतसे तिरस्कृत होना विष है, जिसे चखकर यह मृतकवत् होगी। (वि० टी०) पं० रामकुमारजी लिखते है कि यहाँ भरतराज्य विष है। श्रीरामजीको वन देकर पतिको मारकर भरतराज्य चाहती है, इसीसे भरतराज्यको विष कहा। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी भक्ति अमृतरूपा है, राज्यसुख-विषयविष है। अर्थात् भरतजीको राज्य देकर राजसुखका अनुभव करना चाहती है जो असम्भव है, क्योंकि विष तो चखते ही मृत्यु कर देगा? उसका अनुभव कैसे होगा? अर्थात् जब श्रीरामजी वनको चले जायँगे तब राजाकी मृत्यु हो जायगी।''अतः जब प्रथम अमृत-पान करके विष चीखेगी तब जीती रहकर विषका अनुभव कर सकती है। भाव कि यदि कैकेयी श्रीरामभक्ति-सुधाका पान करे अर्थात् श्रीरामजीको घरमें रख ले तब भरतराज्य, जो विषका चखना है, हो सकता है; क्योंकि अमृत पीनेवालेको विष नहीं मार सकता, पर जब गरल मृत्यु कर देगा तब अमृत जिला नहीं सकता।' (आगे वि० त्रि० के टिप्पण भी देखिये।)

नोट—३ *'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी'* इति। (क) कैकेयीने चार बातें कीं; इसीसे उसमें चार दोष कहते हैं। छाये हुए घरपर आग धर दी, अतएव कुटिल है। (पं० रा० कु०) वा, स्वामीसे विमुख होने अथवा कुमार्गपर चलनेसे कुटिल कहा। (पं०, वै०) या ऊपरसे तो श्रीरामजीमें स्नेह दिखायी है, पर भीतर कुछ और है, इसीसे तो राजतिलकसे क्षोभ हुआ, अतः *'कुटिल'* कहा। (नं० प०) (ख) अपने हाथसे अपनी आँखें निकालनेके सम्बन्धसे *'कठोर'* कहा। (पं० रा० कु०) श्रीरामजीको दुःख देनेका विचार मनमें लानेसे, उनको वनवास देनेका हठ करनेसे कठोर-हृदय कहा। (पं०) (ग) अमृत फेंककर विषको चखना चाहती है, अतः *'कुबुद्धि'* है। हितमें अनहित और अनहितमें हितका विचार कर रही है, किसीका कहना नहीं सुनती-मानती, यह नहीं विचार करती कि श्रीरामजीके वनगमनसे राजाकी मृत्यु हो जायगी, तब मुझे कौन सुखभोग करनेको मिलेगा, यह 'दुर्बुद्धि' की बात ही है। (पं० रा० कु०, पं०, वै०, नं० प०) (घ) 'पालवपर बैठकर पेड़ काटा।' वा रघुवंशको जलानेके लिये इस वंशमें अग्निरूपसे प्रकट हुई, सभीके हृदयको जला रही है, अतः *'अभागी'* कहा। (वै०, पं०)। वा, इसके हृदयमें रामभक्ति न होनेसे अभागी कहा। (नं० प०), यथा—*'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥'* (३। ३३। ३) *'जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यानरंक नर मंद अभागी॥'* (३। ४५। ३) (ङ) कुटिल कठोर आदिमें उत्तरोत्तर अपकर्षवर्णनमें 'सार अलङ्कार' है।

नोट—४ *'भइ रघुबंस बेनु बन आगी'* इति। (क) कुटिलादि विशेषण देकर तब कहा कि रघुवंशको जलानेके लिये यह वेणुवनसे प्रकट हुई अग्निके समान हुई। इससे जनाया कि कुटिल, कठोर, कुबुद्धि, अभागे ही ऐसा काम कर सकते हैं, दूसरे नहीं! (ख) बाँसके जंगलमें प्रायः आपहीसे आग लग जाती है। वायुके वेगसे बाँस जब आपसमें बारम्बार लड़ते हैं तब उनमें एक-दूसरेकी रगड़से अग्नि पैदा हो जाती है, जो सारे वनको जला डालती है। यहाँ बाँसके वनकी उपमा दी, क्योंकि जैसे बाँसहीमेंसे आग निकलकर बाँसके वनमात्रको जला देती है, वैसे ही इस कुलमें ही कैकेयी अग्निरूप प्रकट हुई, जिसने अपने वंशभरको शोकमें डुबा दिया। यहाँ बाँसोंकी आपसमें रगड़ क्या है? वही जो मंथराने उपदेश दिया है। यथा—*'समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते', 'पठए भरत भूप ननिअउरें।' '.....साल तुम्हार कौसिलहि माई।', '...सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी।' 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख तुम्हहि कौसिला देब।...', 'सुतहि राजु रामहि बन बासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू.....॥'* यही सौतियाडाह आपसकी रगड़ है। (ख) यहाँ 'परम्परित रूपक' अलङ्कार है। कैकेयीका नाम न लेकर उपमानको प्रधान बनानेमें साध्यवसान लक्षणा है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'कुटिल कठोर.....ठाटा'* इति। निष्कारण दुःख देना कुटिलता है और सुखके समय दुःख देना कठोर कुटिलता है, यथा—*'केकयनंदिनि मंद मति कठिन कुटिलपन कीन्ह। जेहि रघुनंदन*

जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥' उदाहरण पहिले ही दे आये हैं, यथा—*'छाइ भवन पर पावक धरेऊ।'* घरमें आग लगाना कुटिलता है और छाकर उसमें आग लगाना कठिन कुटिलता है। यह घरकी छानेवाली थी, घर फोड़नेवाली बात नहीं सुन सकती थी, यथा—*'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावौं तोरी॥'* वृद्धोंसे सुना है कि जब महाराज दशरथ बारात लेकर जनकपुर गये थे, उसीके बीचमें पुत्र और पुत्रवधू रामजानकीके उतरनेके लिये इसने कनकका भवन बनवाया था, सो आज वनवास देकर उस कनकभवनमें आग लगा रही है।

उलटी बुद्धि जिसके द्वारा हित अनहित जान पड़े और शत्रु मित्र मालूम पड़े वही कुमति है। यथा—*'तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित जानहु रिपु प्रीता॥'* अब इससे बढ़कर उलटी बुद्धि क्या होगी कि जिस आँखके बदौलत संसार दिखायी पड़ता है, उसे अपने हाथोंसे निकालकर देखना चाहती है। शत्रु आँख निकालना चाहते हैं सो यह स्वयं अपनी शत्रु हो गयी है, अपने हाथसे अपनी आँख निकालना चाहती है। आँख बड़ी प्रिय वस्तु है। कहावत है कि *'अँखियाँ बड़ी नियामत हैं।'* इसी भाँति सौभाग्य और सुयश बड़ी प्रिय वस्तु हैं, इन दोनोंको अपने हाथोंसे नष्ट करके यह सुख चाहती है, यथा—*'लीन्ह'* (१) *बिधवपन* (२) *अपजस आपू।'* अत: इससे बढ़कर कुबुद्धि कौन होगा।

जिसके पास अमृत हो और वह विषका स्वाद जाननेके लिये अमृतको फेंककर विष पीना चाहे उसके ऐसा अभागा कौन होगा? कैकेयी रामसंयोगरूपी अमृतका त्याग करके रामविरहरूपी विष पान करना चाहती है, यथा—*'लोग बियोग बिषम बिष दागे।'* अत: यह अभागी है।

इसके कारण रघुवंशका नाश हुआ चाहता है, इसीलिये कविने रघुवंशकी उपमा वेणुवनसे और कैकेयीकी उपमा अग्निसे दी, यथा—*'मृगी देखि जनु दव चहुँ ओरा।'*

रामवनवासके विषयमें कहकर अब भरतके राज्यके विषयमें कहते हैं। भरत पल्लव हैं, रामजी वृक्ष हैं। वृक्षके कल्याणसे ही पल्लवका कल्याण है। वृक्षके कटनेपर पल्लव सूखते कितनी देर लगती है। सो यह पल्लवरूपी भरतको आश्रय बनाकर रामरूपी वृक्षको काटना चाहती है। भरतजी स्वयं कहते हैं *'पेड़ काटि तैं पालउ सींचा।'* अत: कैकेयीकी कोई भी बात बुद्धिके भीतर आने लायक नहीं है। पापिनी भी पाप किसी इष्टसिद्धिका उद्देश्य करके ही करती है, पर इस पापिनीको क्या समझ पड़ा, जो इसने ऐसा अनर्थ कर डाला।

नोट—५ *'पालव बैठि पेड़ एहि काटा।'''* इति। यहाँ भरत 'पालव' हैं, राम पेड़ हैं। यही बात भरतजी अपने मुखसे कहते हैं, यथा—*'पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा॥'* (१६१। ८) जिसके आधारपर सर्व सुख भोगनेको मिलते उसका ही सर्वनाश किया। पल्लवपर बैठे पेड़ काटे और सोचे कि पेड़ कटकर गिर पड़ेगा मैं न गिरूँगी, मेरा आधार पल्लव ज्यों-का-त्यों स्थिर और हरा-भरा रहेगा, यह मूर्खता ही तो है! वह तो साथ ही पत्ते-सहित नीचे गिरेगी, वैसे ही यह भरतराज्यका आश्रय पकड़े है और रामराजरूपी पेड़को काटती है।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'यहाँ राजा पेड़रूप हैं। पेड़में प्राण होता है, वैसे ही राजाके प्राण श्रीरामजी हैं।' भरतजी पल्लव हैं। कैकेयी भरतजीका आधार लेकर श्रीरामको वनवास दे रही है। अर्थात् राजाका प्राण ले रही है। यही पल्लवपर बैठकर पेड़का काटना है। परंतु जब श्रीरामजीके वन जानेसे राजाकी मृत्यु होगी तब कैकेयीको अपना भी तो मरण होगा; क्योंकि स्त्रीका प्राण पति ही है, अत: यह उपमा राजाके मरने और कैकेयीकी मूर्खताके सम्बन्धमें है। भरतका (उपर्युक्त उद्धृत) वाक्य भी इसीका प्रमाण है। वे कैकेयीसे कह रहे हैं कि तू पेड़को काटकर पल्लवको हरा-भरा रखनेके लिये सींचती है, किंतु यह नहीं समझती कि पेड़से जायमान पल्लव पेड़के कटनेपर कैसे हरा रहेगा। पेड़रूप राजाको नष्ट करके उनसे जायमान पल्लवरूप मुझको प्रसन्न करनेके लिये सिंचनरूप राज्य दे रही है तो मैं कब प्रसन्न रह सकता हूँ। भरतजीने अपनेको पल्लव और राजाको पेड़ कहा है।'

नोट—६ *'सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा'* इति। (क) यहाँ सुख श्रीरामजीका राज्य है और शोकका ठाट वनवास आदि है। कैकेयीने सुखरूपी श्रीरामराज्यको भङ्ग किया। सुखके ठाटमें आग लगा दी; सब जल गया, यथा—*'छाइ भवन पर पावक धरेऊ'* अब उसकी जगह शोकका ठाट बाँधा। बँगला वा घर छानेके लिये बाँसों और लकड़ियोंकी खपचियों वा फट्टियोंको सीधी-तिरछी रखकर बाँधकर जो टट्टर-सा बनाते हैं उसे ठाट कहते हैं। इस बाँस-लकड़ीके ठाटपर काँस-फूस आदि रखकर बाँस लगाकर बाँधते हैं। इस फूसकी छावनीपर आग पड़नेसे फिर अग्नि तुरत फैल जाती है। (ख) इस चरणका अर्थ भरतजीके *'मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बसूला॥ कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥ मोहि लगि यहु कुठाटु तेहि ठाटा। घालेसि सब जगु बारह बाटा॥'* (२१२। ३—५) यहाँके 'शोक-ठाट' का ही भरतजीने 'कुठाट' कहा है, बस इतना ही अन्तर है। (प० प० प्र०)

सदा राम एहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना॥ ६॥
सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु* अगाध दुराऊ॥ ७॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥ ८॥

शब्दार्थ—ठाना (अनुष्ठान)—ठानना=मनमें पक्का, स्थिर, निश्चित या ठीक कर रखना, दृढ़ सङ्कल्प करना। अगह=अग्राह्य, जो पकड़ा या लखा न जा सके। यथा—*'कहैं गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है', 'माधवजू नेकु हटकौ गाय। निसिबासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाइ'*—(सूर)। बरुकु=भले ही।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी इसको सदा प्राणके समान प्रिय थे। फिर भी न जाने किस कारणसे इसने इस कुटिलपनका दृढ़ सङ्कल्प किया (यह कुटिलता ठानी) अर्थात् श्रीरामजीके वन जानेमें हठ किया॥ ६॥ कवि स्त्री-स्वभाव सत्य ही कहते हैं, अर्थात् जो उन्होंने उनका स्वभाव कहा है वह सत्य ही है कि इनका दुराव (कपट, छिपाव) अगह है अर्थात् पकड़े नहीं मिलता और गहरा है, जिसकी थाह नहीं मिल सकती॥ ७॥ चाहे अपनी परछाँहीं भले ही पकड़ी जा सके पर, हे भाई! स्त्रियोंकी गति (चाल, चरित, व्यवस्था, दशा) नहीं जानी जा सकती॥ ८॥

नोट—१ (क) *'सदा राम एहि प्रान समाना।'''* इति। यथा—*'प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें॥'* (१५। ८) (ख) *'एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ।'* (४७। २) उपक्रम है, *'कारन कवन'* उपसंहार है। यहाँ आश्चर्य स्थायीभाव है।

टिप्पणी—१ *'सत्य कहहिं'* भाव कि अभीतक पोथियोंमें लिखा देखा और उनको कहते सुना था; पर आज प्रकट देखनेमें आया; इससे उनके कथनकी सत्यतापर प्रतीति हुई। अगह और अगाधकी उपमा आगे चौपाई और दोहेमें क्रमसे देते हैं। *'निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई।'''* यह अगहकी उपमा है और *'काह न पावक जारि सक का न समुद्र समाइ।'''* यह अगाधताकी उपमा है। दोनोंके बीचमें 'पावक' की उपमा कहनेका भाव कि समुद्रमें बड़वानल रहता है, इसीसे बड़वानलसहित समुद्रकी उपमा दी और उससे सूचित किया कि गम्भीरतामें समुद्रके समान है और जलानेमें बड़वानलके समान है (यहाँ शब्द-प्रमाण अलङ्कार है)।

टिप्पणी—२ *'जानि न जाइ नारि गति भाई।'''* इति। *'नारि गति'* का वही आशय है, जो ऊपर कहा कि *'सब बिधि अगह अगाध दुराऊ।'* दुराव ही *'नारि गति'* का भावार्थ है। आगे भरतजीकी उक्तिसे भी यही भाव स्पष्ट होता है, यथा—*'बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥'* (१६२। ४) भाव कि यह मनमें श्रीरामजीसे द्वेष रखती थी और उस द्वेषको ऐसा छिपाये रही कि आजतक कोई न लख पाया।

* अगम—पं० रामगु० द्वि०, वन्दनपाठकजी।

टिप्पणी—३ *'सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ'* इति। मिलान कीजिये—'**अग्राह्यं हृदयं तथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्। भावः पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते॥**' (भर्तृहरिनीतिशतक ११२), '**अन्तःक्रूराः सौम्यमुखा अगाधहृदयाः स्त्रियः। अन्तर्विषा बहिः सौम्या भक्ष्या विषकृता इव॥**' '**यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद् बहिः। यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः॥**' (१-२) अर्थात् स्त्रियोंके हृदयके विचार अग्राह्य हैं, जैसे दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब। उनके मनके भाव जाने नहीं जा सकते, जैसे पर्वतपरके सूक्ष्म कठिन मार्ग॥ १॥ भीतरसे कुटिल, देखनेमें सौम्य, स्त्रियोंका हृदय ऐसा अगाध है, भीतर विष बाहर मुखपर सौम्य, मानो विष-मिला सुन्दर भोजन हो॥ २॥ जो उनके हृदयमें है वह जिह्वापर नहीं और जो जिह्वापर है, उसे वे प्रकट नहीं करतीं, जो कहतीं सो करतीं नहीं—स्त्रियोंके ऐसे विचित्र चरित्र होते हैं। (वि० टी०)

टिप्पणी—४ *'भाई'* सम्बोधन इससे दिया कि ये बातें अयोध्यावासी आपसमें कह रहे हैं। पुनः भाई कहकर बोलनेका एक ढंग है, यथा—*'तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचारि करउँ का भाई'* इत्यादि। विशेष- (१। ३९। ८। १। ८। १३) देखिये।

दो०—काह न पावकु जारि* सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥ ४७॥
का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥ १॥

अर्थ—आग क्या नहीं जला सकती? समुद्रमें क्या नहीं समा सकता? अबला प्रबल है, वह क्या नहीं कर सकती? जगत्‌में काल किसको नहीं खाता?॥ ४७॥ ब्रह्माने क्या सुनाकर क्या सुनाया? अर्थात् राज्य सुनाकर वन सुनाया। क्या दिखाकर अब क्या दिखाना चाहता है? अर्थात् सदा भूषण-वस्त्रयुक्त रामजीको देखा करते थे, अब वल्कलचीर पहिने, जटा धारण किये तपस्वीरूप दिखाना चाहता है, आनन्द-बधावे दिखाकर विपत्ति दिखाना चाहता है÷॥ १॥

टिप्पणी—१ *'काह न पावकु जारि सक…'* इति। (क) अग्नि आदिकी उपमाएँ दीं; क्योंकि रामविरहमें इसने सबको जलाया, शोकसमुद्रमें सबको डुबाया और राजाको कालके वश किया। *'का न करइ?'* 'भाव यह कि जो काम अग्नि करता है, समुद्र कर सकता है, काल करता है, उसमेंसे ऐसा कौन काम है जो अबला नहीं कर सकती? वह तो नामहीकी 'अबला' है पर है सबसे प्रबल', यथा—'**नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः।**' (भर्तृहरिशतक) ऊपर इनके दुरावको अगाध कहा था, अब *'का न समुद्र समाइ'* से अगाधताका स्वरूप दिखाते हैं कि अयोध्यारूपी समुद्रमें यह रहती थी, कौन जानता था कि आज बड़वानलरूपी हो उसीको भीतर-भीतर जलायेगी। समुद्र प्रलयके समय ब्रह्माण्डभरको डुबा देते हैं।

टिप्पणी—२ अबला जड़ है, यथा—*'अबला अबल सहज जड़ जाती'* (७। ११५। १६) इसीसे यहाँ जड़की ही उपमाएँ दीं। अग्नि, समुद्र, काल—ये सब जड़ हैं।

वि० त्रि०—*'काह न पावकु…खाइ।'* इति। स्त्रियोंका स्वभाव कहकर, गति कहकर अब करणी कहते हैं कि इनकी जड़ करणी होती है। उदाहरण देते हैं, जैसे अग्नि, समुद्र और काल। ये नहीं देखते कि कौन भला है, कौन बुरा है, कौन साधु है, कौन असाधु है। अग्नि अवसर पाते ही सबको जलाती है, अपने वशमें आ जानेपर समुद्र सबको डुबाता है और काल तो किसीको छोड़ता ही नहीं, यथा—*'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी'*, तथा—*'अग जग मनुज नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥'* इसी भाँति प्रबल स्त्री सब अनर्थ करती है—'**स्त्री पुंवच्च**

* जरि सकै—का, रा० प्र०।
÷ दीनजी—वनवास दिखाकर आगे न जाने क्या दिखायेगा?

प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनश्यति।' स्त्री पुरुषकी भाँति जब प्रभु हो जाती है, तब घर नष्ट हुए बिना नहीं बचता।

रानी कैकेयीकी प्रभुता इतनी बढ़ गयी थी कि महाराज उससे सब काम पूछ-पूछकर करते थे, यथा—***'मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। ताते परेउ मनोरथ छूछे॥'*** फल यह हुआ कि आज वह अग्नि, समुद्र और कालकी भाँति घातक हो रही है। अग्निकी भाँति, यथा—***'आगे दीख जरत रिसि भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥ मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥ लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥'***

समुद्रकी भाँति यथा—***'पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥'*** अन्तमें विपत्ति वारिधिरूपमें परिणत हो गयी। कालकी भाँति, यथा—***'लागेउ तोहि पिसाच जिमि काल कहावत मोर।'*** इसीलिये साध्वी स्त्री स्वातन्त्र्यको अपना अभाग्य समझती हैं। शास्त्र भी कहता है कि न '**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**'। स्थूलदर्शी इस बातको नहीं देख सकते। सूक्ष्मदर्शियोंने इस बातको देखा है। कवि सूक्ष्मदर्शीको कहते हैं। अतः लोग कविका प्रमाण देकर बोल रहे हैं कि हम लोग प्रपञ्चमें पड़े हुए इस बातका अनुभव नहीं कर सके—***'सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ'*** इत्यादि।

अ० दी० च०—अ० दी० कार यहाँ काकु वक्रोक्तिके अनुसार अर्थ करते हैं। 'जहाँ श्लेष और काकुसे अन्य अर्थकी कल्पना हो वहाँ 'वक्रोति अलङ्कार' कहा जाता है। ***'काह न पावक जारि सक केहि जग काल न खाइ'*** इसका अर्थ तो व्यञ्जकसे होगा। ***'का न करइ अबला प्रबल', 'का न समुद्र समाइ'*** अपर अर्थका बोधक। अर्थ यह है—काल और अग्निके मुखसे कोई बचे तो बचे अर्थात् इन दोनोंसे बचना सम्भव है; पर कैकेयीसे अवधका सुख नहीं बचा, (कैकेयीके कान करनेसे) अवध-समुद्रका सुखरूपी जल कैकेयीके कानमें चला गया। अर्थात् अवधका सुख मंथराके मुखसे सुनतेमात्र सूख गया।'

प० प० प्र०—इस दोहेमें बहिर्लापिका है। चारों प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—(१) ***'काह न पावकु जारि सक?'***— श्रीहनुमान्‌जी, विभीषणजी, प्रह्लादजी आदि वैष्णव भक्तोंको पावक नहीं जला सकता। (२) ***'का न समुद्र समाइ?'***—तृण आदि हलके पदार्थ समुद्रमें नहीं समाते। (३) ***'का न करै अबला प्रबल?'***— सामान्यतः अबला अबल ही रहती है, पर जब वह प्रबल होती है तब अनेकों अनर्थोंकी जड़ होती है। जैसी रघुकुलमें कैकेयी, पेशवाओंमें आनन्दी बाई। ऐसी प्रबल अबला केवल 'सुविचार' नहीं कर सकती। (४) ***'केहि जग काल न खाइ!'***—ज्ञानी, जीवन्मुक्त, महायोगी भक्तोंको काल नहीं खा सकता, जैसे श्रीभुशुण्डिजीको। यथा—***'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'*** (७। ८८। १) ***'महा प्रलयहुँ नास तव नाहीं। तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन॥'*** (७। ९४) जो इच्छामरणी होते हैं उनकी इच्छाके विरुद्ध उनकी देहको काल नहीं खाता है।

शंका—जब स्त्री अबला है तब ***'का न करै'*** कैसे कहा? जिसको 'अबला' कहा उसको 'प्रबल' अर्थात् एक ही चरणमें ऐसे दो विरुद्धार्थी शब्द कैसे लिखते हैं?

समाधान—'अ' निषेधार्थक अव्यय है जिसका प्रयोग किसी शब्दके प्रारम्भमें एक निश्चित अर्थको लेकर ही होता है। 'प्र' उपसर्ग है। उपसर्गोंका प्रयोग किसी शब्दविशेषके अर्थमें विशेषता बोध करानेके लिये होता है। 'अबला' शब्दका 'अ' केवल बाह्य बलका निषेध करता है। अर्थात् स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा शारीरिक बल कम होता है, यह एक परिपुष्ट सुदृढ़ नैसर्गिक नियम है। इसलिये स्त्रियाँ सर्वत्र अबला शब्दसे व्यवहृत की जाती हैं। उसी नियमके अनुसार मानस कविने उनको 'अबला' लिखा।

शारीरिक बलके अतिरिक्त बुद्धि, चातुर्य, धैर्य, व्यवहार, रीति, नीति, सौख्य, स्निग्धता, सौन्दर्य, स्नेह, दया, ममता, काम-क्रोधादि सभी प्रकारके गुण, अवगुण पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक पाये जाते हैं। यह नैसर्गिक नियम है, इसीसे अवसरविशेषपर स्त्रियोंके लिये 'बल' के साथ 'प्र' लगाकर अर्थात् 'प्रबल'

कहकर अभियुक्त किया। जो कार्य स्त्रियाँ शारीरिक बलसे सिद्ध नहीं कर सकतीं, उसे वे बुद्धिकौशलसे सम्पन्न कर लेती हैं। यों भी कह सकते हैं कि स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य-साधनमें सर्वप्रथम बुद्धि-तर्कवादको ही प्रश्रय दिया करती हैं।

सारांश यह है कि पुरुषोंकी अपेक्षा शारीरिक बल कम होनेसे स्त्रियोंको 'अबला' और भौतिक ज्ञान-तन्तुओं, हृदय, मस्तिष्कके सुदृढ़ होनेसे 'प्रबला' कहा गया जो सर्वथा युक्तियुक्त है, दोनोंके एक साथ प्रयोगमें वदतो व्याघात दोष नहीं है। (वे० भू० पं० रामकुमारदास)।

पु० रा० कु०—*'का सुनाइ बिधि काह सुनावा'* अर्थात् विधि होकर उसने अविधि कैसे की? उसको ऐसा अयुक्त, अयोग्य कार्य न करना चाहिये था।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'का सुनाइ……सुनावा'*—भाव यह है कि कल तो सुना था कि श्रीरामजीका अभिषेक होगा। यथा—*'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'* और आज *'जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥'* कल देखा कि घर-घर अभिषेकोत्सव हो रहा है! *'हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परस्पर लोग लोगाई॥ कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहिं बिधि अभिलाष हमारा॥ कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'* सो आज उन्हीं रामजीको वन जाते देखा चाहते हैं। यह सब विधिकी करनी है, यथा—*'मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी।'* नहीं तो जो घटना घट रही है, वह नितान्त असम्भव थी।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥ २॥
जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु॥ ३॥
एक धरम परमिति पहिचानें। नृपहिं दोसु नहिं देहिं सयाने॥ ४॥

शब्दार्थ—**हठि**=निश्चय ही, बलात्, हठ करके। **भाजनु**=पात्र, बर्तन, योग्य। **परमिति**=(परिमिति) सीमा, मर्यादा, हद।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि राजाने अच्छा नहीं किया, दुर्बुद्धि कैकेयीको विचारकर वर न दिया॥ २॥ जो (अर्थात् वही अविचारका वर) हठ करके अर्थात् निश्चय ही सब दुःखोंका पात्र हो गया।* स्त्रीके विशेष वशमें होनेसे मानो ज्ञान और गुण जाता रहा॥ ३॥ एक (कोई जो) सयाने हैं और धर्मकी मर्यादाको जानते हैं, वे राजाको दोष नहीं देते॥ ४॥

टिप्पणी—*'एक कहहिं भल भूप न कीन्हा।……'* इति। (क) प्रथम कुछ लोगोंने कैकेयीको दोष दिया तब किसी-किसीने राजाको दोष दिया। (ख) *'बरु बिचारि नहिं……'*—भाव कि राजाको विचार करना था कि सारे नगरमें श्रीरामराज्याभिषेकके लिये उत्साह हो रहा है, ऐसे अवसरपर यह कोपभवनमें गयी है, अतएव अवश्य इसे रामराज्याभिषेकसे ही दुःख हुआ होगा। इत्यादि विचार करके इस तरह वर देनेकी प्रतिज्ञा न करनी चाहिये थी। वही रामशपथ ही तो सब दुःखका कारण हो गया।

टिप्पणी—२ *'जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु।……'* इति। (क) *'हठि'* का भाव कि राजाने सत्यकी सराहना करके और रामशपथ खाकर आप ही वर माँगनेको कहा और वर दिये। स्त्रीके वश होकर उन्होंने कुछ विचार न किया, बिना विचारे वर दिया। (ख) *'सकल दुख भाजनु'*—रामराज्यरसभङ्गका दुःख, रामवनगमनका दुःख, भरतराज्य न देख सकनेका दुःख, कुलके नाश होनेका दुःख, प्रजाके नाशका दुःख इत्यादि सब दुःख हैं। (ग) *'अबला बिबस'* अर्थात् वह तो अबला है, उसे कौन बल था जो राजाको दुःख देती, राजा अपनी ओरसे उसके वश होकर दुःखके पात्र हुए। (वाल्मीकीय० सर्ग १२ में राजाने जो कैकेयीसे कहा है कि लोग कहेंगे कि राजा मूर्ख और कामी हैं, उन्होंने स्त्रीके लिये अपने प्रिय

---

* पाँड़ेजी—जिस अबलाके वश होकर राजा सब दुःखोंके पात्र हो गये। अबलाके विशेष वश होना ज्ञान और गुणका नाशक है।

पुत्रको वन भेज दिया; सभी मुझे धिक्कारेंगे, मेरी निन्दा करेंगे। वही बात यहाँ चरितार्थ हुई है।) (घ) *'ग्यानु गुनु गा जनु'* अर्थात् यदि ज्ञान न जाता रहता तो स्त्रीके वश न हो जाते और न बिना विचार किये वर देते।

टिप्पणी—३ *'एक धरम परमिति पहिचाने।'*····' इति—इससे सूचित हुआ कि जिन्होंने राजाको दोष दिया वे धर्मकी मर्यादाको नहीं जानते थे। जो धर्म-मर्यादाको जानते हैं उन्होंने दोष न दिया, इसीसे उनको *'सयाने'* कहा। जब कैकेयीको लोग दोष देते थे तब ये न बोले, न इन्होंने उनका खण्डन किया, न मण्डन, पर राजाको दोष लगाया तब उनके वचनोंका इन्होंने खण्डन किया क्योंकि राजा धर्मात्मा हैं, कैकेयी धर्मात्मा नहीं है। उसीने तो श्रीरामको वन दिया, पतिका घात किया और सभीको दुःख दिया।

सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥५॥
एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं॥६॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा॥७॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहुँ प्रान* पियारे॥८॥

शब्दार्थ—**संमत**=सलाह, राय, अनुमति। रद=दाँत। **जीहा**=जिह्वा, जीभ, यथा—*'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।', 'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा॥'* (६। ३३। ७) *'अलीहा*=(अलीक) मिथ्या, झूठ, असत्य। **उदास**=झगड़ेसे अलग, निरपेक्ष, तटस्थ, जो किसीके लेने-देनेमें न हो।

अर्थ—श्रीशिबिजी, दधीचिजी और हरिश्चन्द्रजीकी कथाएँ एक-दूसरेसे बखान कर कहते हैं॥ ५॥ एक (कैकेयीकी करनीमें) भरतका सम्मत बताते हैं, कोई यह सुनकर उदास भावसे रह जाते हैं (कुछ बोलते नहीं) और कोई हाथसे कान बन्द करके दाँततले जीभ दबाकर कहते हैं कि यह बात झूठ है॥ ६-७॥ ऐसा कहते ही तुम्हारे सुकृत नष्ट हो जायँगे। भरतको तो रामजी प्राणप्रिय हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सिबि दधीचि'*····' इति। (क) जिन्होंने राजाको दोष लगाया था उन्हींके वचनोंके उत्तरमें ये राजाका गुण दिखाते हैं कि राजाने बिना विचारे वर नहीं दिया, राजाका ज्ञान नहीं जाता रहा। राजाने वचन दिया था उसका पालन करना कर्तव्य था। वही उन्होंने किया तभी तो राजा उदारदाता हुए और सत्यसे न डिगे। धर्मात्मा पुरुष अपने वचन रखनेके लिये अनेक दुःख सहते हैं। वैसे ही दशरथ महाराजको सब दुःख उठाकर भी प्रतिज्ञाका पालन करना उचित ही है। इसीपर राजर्षि शिबिजी, महर्षि श्रीदधीचिजी और महाराज हरिश्चन्द्रजीकी कथाएँ एक-एकसे बखानकर कहने लगे। बहुत लोग हैं, अतः कोई किसीसे शिबिजीकी, कोई किसीसे दधीचि ऋषिकी इत्यादि कथा कह रहा है। श्रीशिबिजी, महर्षि दधीचिजीकी कथाएँ ३०। ७ में देखिये।

महाराज हरिश्चन्द्रजी—इनकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। संक्षिप्त कुछ यह है—ये रघुवंशी राजा त्रिशंकुके पुत्र थे। विश्वामित्रने वसिष्ठजीको इन्द्रकी सभामें इनकी प्रशंसा करते सुनकर परीक्षाके लिये विप्ररूप धरकर उनके पास जाकर पहले तो उनसे सम्पूर्ण राज्य माँग लिया और फिर दक्षिणा भी माँगी। राजा स्त्री-पुत्रसहित राज्यसे निकले। स्त्री-पुत्रको बेंचकर कुछ अदा हुआ, शेषके लिये काशीजीमें वीरबाहुक चाण्डालके हाथ स्वयं बिके। इतनेपर भी विश्वामित्रने उन्हें चैन न लेने दिया। उन्होंने उनके पुत्र रोहितको सर्प बनकर डसा। उसे जलानेको माता श्मशानपर आयी। लड़केको जलानेके लिये भी उन्होंने अपने मालिकका कर न छोड़ा? रानीका आधा वस्त्र ले ही लिया। तब यह प्रसिद्ध किया कि वह मुर्दे खाती है। वीरबाहुकने यह सुनकर अपने गुलाम हरिश्चन्द्रजीसे इसका वध करनेको कहा। राजा जान गये कि यह उनकी रानी है, पर वे गुलाम थे। अपना धर्म फिर भी न छोड़ना स्वीकार किया और वध करनेके लिये खड्ग उठाया। त्यों ही भगवान्‌ने हाथ पकड़ लिया। मुनि भी अति प्रसन्न हुए और पुत्रको जिला, स्त्रीसहित उनको पुनः अयोध्याका राज्य सौंप दिया।

* परम—पं० राम गु० द्विवेदी, पं० रामकुमारजी।

टिप्पणी—२ *'कान मूदि''''।'* अर्थात् यह बात सुननी भी न चाहिये और न यह बात कहने योग्य है। इसका कहना-सुनना दोनों पाप हैं। अप्रिय बात सुनकर ऐसा करनेकी चाल है। ऐसी जिह्वा काटने योग्य है। (पंजाबीजी) यहाँ 'पिहित' अलङ्कार है।

टिप्पणी—३ *'सुकृत जाहिं'''*'—सुकृतका फल सुख और सुगति है, सुकृतके नष्ट होनेसे सुख और सद्गति नहीं मिलते, यथा—*'मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'* (१६९। ४) सुख इस लोकमें नहीं पाते और सुगति परलोकमें नहीं पाते। यथा—*'उर आनत तुम्हपर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥'* (२६३। ७)

दो०—चंदु चवइ[1] बरु अनल कन सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहु कबहुँ न करहिं किछु[2] भरत राम प्रतिकूल॥ ४८॥

शब्दार्थ—**'चवइ'**=पकावे, गिरावे। थोड़ा-थोड़ा (बूँद-बूँद) गिरनेको चूना कहते हैं। **'कन'** (कण)=बहुत छोटा टुकड़ा। **अनलकन**=चिनगारी। **'तूल'**=तुल्य।

अर्थ—चाहे चन्द्रमा आगके कण गिरावे, अमृत विषके समान हो जाय, पर भरतजी श्रीरामजीके प्रतिकूल स्वप्नमें भी कभी कुछ नहीं करेंगे॥ ४८॥

नोट—१ इस (भरतजीके) प्रसङ्गमें उत्तम, मध्यम और लघु तीन प्रकारके लोगोंकी वार्ताएँ लिखीं। *'एक भरत कर संमत कहहीं'* ये अधम हैं, *'एक उदास भाय सुनि रहहीं'* ये मध्यम हैं और *'कान मूदि कर रद गहि जीहा।'* यहाँसे दोहातक जिनका कथन है वे उत्तम हैं। ☞यहाँतक पुरजनोंके विभिन्न विचारोंको प्रदर्शित करके जनस्वभावका सुन्दर चित्रण किया है।

२—*'चंदु चवइ''''''''* अर्थात् ये अनहोनी असम्भव बातें चाहे हो भी जायँ, पर भरतजी जागृतिकी कौन कहे स्वप्नमें भी प्रतिकूल न करेंगे। चन्द्रमा अपनी किरणोंद्वारा अमृतकी वृष्टि करके वनस्पतिका पालन-पोषण करता और शरदातपको हरण करता है। चाहे वह अपने स्वभावको छोड़कर आगकी चिनगारियाँ बरसाने लगे, पर भरतजीका स्वभाव नहीं बदल सकता।

एक बिधातहि दूषनु देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं॥ १॥
खरभरु नगर सोचु सब काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥ २॥

अर्थ—एक विधाताको दोष देते हैं कि जिसने अमृत दिखाकर विष दिया॥ १॥ नगरमें हलचल मच गयी। सब किसीको शोच है। हृदयमें असहनीय जलन हो रही है, आनन्दोत्साह जाता रहा॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुधा देखाइ''''*' इति। रामराज्यकी तैयारी अमृत है, वनवास विष है। (ख) पुरुष आठ प्रकारके हैं। इनका आठ प्रकारका स्वभाव गीतामें भगवान्ने कहा है[3]। वही आठ प्रकारके मनुष्य गोस्वामीजीने इस प्रसङ्गमें पुरवासियोंमें गिनाये हैं, यथा—(१) जो राजाको दोष देते हैं। (२) जो राजाको दोष नहीं देते। (३) जो शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्रकी कथा कहते हैं। (४) जो भरतका सम्मत कहते हैं। (५) जो सुनकर उदासीन-भावसे रहते हैं। (६) जो कान बंदकर दाँततले जीभ दबाकर रह जाते हैं? (७) जो कहते है कि यह बात झूठ है। (८) जो विधाताको दोष लगाते हैं। मेरी समझमें इसमें कैकेयीको दोष लगानेवाले भी गिने जाने चाहिये। (६) और (७) में दो गिनाये गये हैं पर मेरी समझमें ये दो नहीं हैं। इस प्रकार कैकेयीको दोष देनेवालोंको मिलानेसे फिर भी आठ ही रहेंगे।—(मा० स०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'एक कहहीं''''''जेहीं'* इति। (यहाँ सात प्रकारके लोगोंके वाक्य हैं)।

(१) अर्थशास्त्री बोले *'भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहि कुमतिहि दीन्हा॥'* इत्यादि।

(२) धर्मशास्त्री राजाको दोष नहीं देते, यथा—*'एक धरम परमिति पहिचाने।'* इत्यादि।

(३) पौराणिक धर्मशास्त्रीके वचनोंको जहाँ-तहाँ पुष्ट करते हैं, यथा *'शिबि दधीचि'* आदि।

(४) कूटनीतिज्ञ भरतकी सम्मति बतला रहे हैं—*'एक भरत कर संमत कहहीं।'*

---

१. चवै—गी० प्रे०। २. कछु—रा० प्र०। ३.गीतामें इस सम्बन्धके श्लोक एक भी नहीं दीखते। अच्छा होता यदि टिप्पणीकार व्यासजीने अध्यायका हवाला दिया होता—सम्पादक।

(५) नीतिज्ञ उदास और गम्भीर हैं, यथा—*'श्रुति पुरान गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥ उदासीन'* इत्यादि।

(६) मर्मज्ञ बोले *'यह बात अलीहा'* इत्यादि।

(७) प्रारब्धवादी विधाताको दोष देते हैं। एक तो विष देना बुरा, फिर अमृत दिखलाकर विष देना अत्यन्त ही बुरा। रामजीको वनवास ही देना था तो अभिषेक सुनाकर उसके बाद वनवास क्यों दिया? हमलोगोंको अभिषेकपर विश्वास दिलाकर घात करना कथमपि उचित नहीं था।

नोट—ऊपर दोहा ४६ में कहा था कि *'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।'''* मानो करुणारस सेना लेकर आ गया, इस प्रसङ्गको वहाँ छोड़कर नगरवासियोंकी परस्पर वार्ता कहने लगे थे, अब उस पूर्व प्रसङ्गको यहाँ मिलाया—*'खरभरु नगर सोचु सब काहू।'* *'खरभरु'*=खलबली, कलकल, शोर, हाहाकार।

टिप्पणी—२ *'खरभरु नगर सोचु सब काहू।''''* इति—'उछाह' पूर्व कह आये हैं, यथा—*'तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥'* (३७।८) वह उछाह न रह गया। रामराज्य न हुआ इससे उरमें दाह हुआ और उसके ऊपर वनवास हुआ, इससे *'दुसह दाह'* हुआ। *'उर'* देहली दीपक है।

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥ ३॥
लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बान सम लागहिं ताही॥ ४॥

शब्दार्थ—'**मान्य**'=प्रतिष्ठित, जिन्हें सब मानते हैं, आदर-सम्मान करते हैं, पूज्य। '**सीलु**=स्वभाव शिष्टाचार। '**जठेरी**'=बड़ी-बूढ़ी, वृद्धावस्थाकी।

अर्थ—ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ, कुलकी मान्य, बड़ी-बूढ़ी और जो कैकेयीकी परम प्रिय हैं, वे कैकेयीके शीलकी प्रशंसा करके उसे शिक्षा देने लगीं। उनके वचन उसको बाणके समान लगते हैं॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी''''* इति। मान्यमें ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ विशेष हैं, उनसे सामान्य कुलमान्य हैं, फिर इनसे सामान्य *'जठेरी'* और उनसे भी सामान्य वे हैं, जो कैकेयीकी प्यारी हैं, अतः इसी क्रमसे कहा। पुनः, इनसे चारों वर्णोंकी स्त्रियोंका उपदेश करना, सिखाना, समझाना दिखाया—*'बिप्रबधू'* से ब्राह्मण वर्णकी, *'कुलमान्य'* से क्षत्रियवर्णकी, *'जठेरी'* से वैश्योंकी और *'परमप्रिय कैकई केरी'* से शूद्रवर्णकी कैकेयीकी दासियाँ सूचित कीं। (पुनः, यों भी अर्थ कर सकते हैं कि विप्र-वधू और कुलमान्यमें जो बूढ़ी और कैकेयीकी परम प्यारी थीं उन्होंने उपदेश दिया।)

टिप्पणी—२ *'लगीं देन सिख सीलु सराही।'''''* इति। सीलु=मुलाहजा, मुरव्वत, शिष्टाचार। शीलकी सराहना इसलिये करती हैं कि जिसमें वह हमारा मुलाहिजा मानकर शिक्षा माने। इसीसे सब मुलाहिजावाली आयी हैं। इन सखियोंके वचन कैकेयीके प्रतिकूल हैं, इसीसे वचनोंसे उसे बाणकी-सी चोट पहुँचती है। [पण्डितजी लिखते हैं कि कैकेयीने करुणारसका कटक जो चढ़ाईके लिये बुलाया है, उसको समझाकर वह लौटा दे, इसलिये ये सब उसे मनाने आयीं हैं।]

वि० त्रि०—जिस भाँति चक्रवर्तीजीको भाटोंका विरद बोलने और गायकोंके गुणगान करनेसे बाणके लगनेकी-सी पीड़ा हुई थी, यथा—*'पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं लागहिं जनु सायक॥'* उसी भाँति सखियोंके शील सराहनासे कैकेयीको शराघात-सी पीड़ा हो रही है। वह समझ रही है कि इस शील-सराहनाका तात्पर्य यह है कि मैं वरदानको वापस ले लूँ, ये शीलकी सराहना करके मेरा बना हुआ काम बिगाड़ना चाहती हैं। कुबरीने ठीक कहा था कि सब तुम्हारा अनभल देख रहे हैं, पर मुझसे नहीं देखा जाता, यथा—*'जारै जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥'* ये सब कौसल्याके षड्यन्त्रकी सहायक हैं, षड्यन्त्र टूटते देखकर मुझे बहकाने आयी हैं, इत्यादि।

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥ ५॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आजु बनु देहू॥ ६॥

कबहुँ न किएहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सबु देसू॥ ७॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥ ८॥
दो०—सीय कि पिय सँगु परिहरिहि लषनु कि रहिहहिं धाम।
राजु कि भूँजब भरत पुर नृपु कि जिइहि बिनु राम॥ ४९॥
अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि* जनि होहू॥ १॥

शब्दार्थ—**पारा**=गिराया, डाला। '**आरेसू**'=वैर, विरोध।, गाँस, ईर्ष्या, डाह। शब्दसागरमें यह शब्द नहीं मिला। २—दीनजी '**सवति आरेसू**' को 'सवतिया—रेसू' इस तरह लिखकर अर्थ करते हैं—'**सपत्नी+रीस=बराबरी**'। '**वा आरेसू**'=आरेस=[आङ्+ईर्ष्या=आ+रेस] परस्पर ईर्ष्या। 'सवतिया+रेस=सवतोंमें 'ईर्ष्या' इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है। (गौड़जी) **भूँजब=भोग** करेंगे। भुजाना चना आदिके भुजाने भूननेके लिये, रुपया आदिके भुनानेके लिये भी आता है। सम्भव है कि उसीसे इसका ऐसा प्रयोग हुआ हो। क्या भुना लेंगे? मुहावरा है अर्थात् क्या कर लेंगे; क्या पा लेंगे? **कोटि**=कोटी, कुठिला, कोठिला, वह बड़ा पात्र जिसमें किसान अनाज रखते हैं।

अर्थ—भरत मुझे रामके समान प्रिय नहीं हैं, यह तुम सदा कहती आयी हो, इसे सब जगत् जानता है॥ ५॥ रामचन्द्रजीपर स्वाभाविक ही प्रेम करती रही हो। आज उन्हें किस अपराधसे वन देती हो?॥ ६॥ तुमने कभी भी सौतसे वैर-विरोध न किया अर्थात् सौतियाडाह नहीं किया। सारा देश तुम्हारी प्रीति और प्रतीति (विश्वास) को जानता है॥ ७॥ अब कौसल्याने तुम्हारा क्या बिगाड़ा (वा, क्या बिगाड़ किया) जिसके कारण तुमने नगरभरपर वज्रपात किया अर्थात् कौसल्याकी बिगाड़से तुम पुरवासियोंको क्यों दुःख दे रही हो, इन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा?॥ ८॥ क्या सीताजी पतिका साथ छोड़ देंगी? लक्ष्मण क्या घरमें रहेंगे? भरत क्या पुरमें राज्य करेंगे? और क्या राजा बिना रामके जीवित रहेंगे? अर्थात् न सीता-लक्ष्मण रहेंगे, न भरत राज्य करेंगे और न राजा जियेंगे, हृदयमें ऐसा विचारकर हृदयसे क्रोधको छोड़ो और कलङ्ककी कोठी न बनो॥ (४९। १)

नोट—सखियोंने पहले रामजीपर उसका प्रेम कहा कि तुम स्वयं ऐसा कहती थी यदि उसपर कहो कि वचन ही तो है कह दिया होगा तो उसपर वे कहती हैं कि ऐसा नहीं है, वरन् तुम्हारा प्रेम रामजीपर स्वभावतः ऐसा रहा है, कुछ मुँहहीसे तुम नहीं कहती थी, भीतरसे तुम्हें प्रेम था। इसपर भी वह न बोली तब उनका अपराध पूछा कि यदि कोई अपराध बतावे तो उनका हम समाधान करें। तब भी न बोली। तब यह विचार किया कि किसी कारणसे कौसल्यासे इसने वैर-विरोध मान रखा हो, अतः कहा कि *'कबहुँ न किएहु सवति आरेसू·····।'* बड़ेसे डरना चाहिये और उससे प्रीति-प्रतीति भी रखनी चाहिये। कौसल्या बड़ी हैं। यदि तुम उनसे वैर-विरोध माने होती तो डर, प्रीति और प्रतीतिका नाश हो गया होता सो बात कभी देखी नहीं गयी—*'प्रीति प्रतीति जान सब देसू।'* तो अब ऐसा क्यों करती हो, यथा—*'प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥'* क्या अब उनसे कोई दोष हो गया है? यदि हुआ है तो बताओ, क्योंकि तुम्हारी इस करनीसे तो नगरभरका नाश हुआ जाता है। कौसल्याकी चर्चा चलायी तब भी न बोली तब सोचीं कि कदाचित्

---

* शुद्ध और समस्त प्राचीन प्रतियोंका यही पाठ है। वन्दन पाठककी प्रतिमें हाशियेपर 'कोटि' भी दिया है। रा० प्र०, ना० प्र० ने 'कोटि' पाठ दिया है। 'कोटि'=अन्तिम सीमा, बहुत ही बढ़कर, जैसा लिखा है पञ्चतन्त्रमें 'कोपकोटिमापन्ना' अर्थात् क्रोधके हदको पहुँची।—(वि० टी०)। आरम्भावस्थामें पं० रामकुमार भी 'कोटि' पाठ करते थे और उसका अर्थ 'आधार' करते थे कि 'सीय कि पिय·······'। पूर्व जो कह आये हैं कि 'जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु' वे सब दुःख यही हैं जो महाराजरूपी पात्रमें भरे गये हैं।

इसका सीता या लक्ष्मणमें प्रेम हो तो इनका वनको साथ जाना सुनकर सम्भव है कि मान जाय; अतएव कहा कि *'सीय कि पिय सँग·····।'* जब देखा कि प्रिय-वियोग सुनकर भी न बोली तब कहा कि देख तुझपर विपत्ति आवेगी, कलङ्क लगेगा।

बैजनाथजी—सखियाँ यह कहती हैं कि 'राम बनगमन' इस एक हानिसे अनेकों हानियाँ हैं और तुम्हारे हितकी भी हानि है। हानिकी शृङ्खला दोहेमें दिखाती हैं कि श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी सभी राज्यको त्याग देंगे तो सब उत्पातकी मूल दूषित राज्यको भरत कब लेनेके?

पाँड़ेजी—पुरपर वज्र गिराया कहकर फिर उस वज्र गिरानेका स्वरूप दिखाती हैं।

वि० त्रि०—१ *'कौसल्या अब काह···पारा'* इति। तुम्हारे विवाहमें कौसल्या बाधक नहीं हुईं, हवि विभागमें बाधक नहीं हुईं। तुम्हारे बढ़ते हुए अधिकारमें बाधक नहीं हुईं, अतः तुममें और उनमें प्रीति भी बड़ी भारी थी। जब बिगाड़ करनेका समय था तब बिगाड़ नहीं किया, अब कौसल्याने क्या बिगाड़ा, जो कहती हो कि *'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल तिन्हहिं देउँ करि साका॥'* हमलोग तुम्हारी सखी हैं, हमसे कहो। तुम तो चली हो कौसल्याको दण्ड देने, यहाँ सम्पूर्ण राज्यपर वज्र गिरा चाहता है। ऐसे अविवेकसे दण्ड नहीं देना चाहिये कि निरपराध लोग पिस जायँ।

२—*'सीय कि पिय संग परिहरिहि·····'* इति। सखियाँ समझाती हैं कि तुम्हें समझना चाहिये कि रामजीके वन जानेका परिणाम क्या होगा। सीता, लक्ष्मण, भरत और चक्रवर्तीजीका इतना गाढ़ प्रेम रामजीपर है कि सीता और लक्ष्मण तो उनका साथ छोड़ेंगे ही नहीं, निश्चय उनके साथ वन चले जायँगे। सीताके साथ जानेसे कितनी बड़ी अप्रतिष्ठा कुलकी और कितना बड़ा अपयश तुम्हें होगा, लक्ष्मणके भी चले जानेसे सब प्रकारसे अवध अनाथ हो जायगा। इस प्रकारसे अर्जित राज्यको क्या कभी भरतजी स्वीकार करेंगे? रामके वन जानेपर भरतका राज्य करना असम्भव है, यथा—*'सोक समाज राज केहि लेखे। लषन राम सियपद बिनु देखे॥'* अतः जिसके लिये तुम सब कर रही हो वह इष्टसिद्धि तीन कालमें सम्भव नहीं, और जिसका तुम्हें बल है वह सौभाग्य भी नहीं रहेगा, यथा—*'गर्बित भरत मातु बल पी के।'* महाराज तो रामजीके लिये प्राण छोड़ देंगे। बड़ा भारी अनर्थ तुम्हारे हाथ हुआ चाहता है। यह सब होनेपर अवध उजाड़ हो जायगा। यही राज्यपर वज्र गिराना है।

भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू॥ २॥
नाहिं न रामु राज के भूखे। धरमधुरीन बिषयरस रूखे॥ ३॥
गुर गृह बसहु रामु तजि गेहू। नृप सन अस बरु दूसर लेहू॥ ४॥
जौं नहिं लगिहहु कहें हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥ ५॥
जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौं कहि प्रगट जनावहु सोई॥ ६॥
राम सरिस सुत कानन जोगू। काह कहिहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू॥ ७॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोकु कलंकु नसाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**लगिहहु**=लगोगी, तत्पर होगी। **रूखे**=उदासीन, विरक्त। **विषय**=भोग-विलास आदि—विषय १४ कहे जाते हैं, उन्हींकी अनेक शाखाएँ हैं। (पण्डितजी)

अर्थ—भरतको अवश्य युवराज दो। पर वनमें श्रीरामजीका क्या काम है?॥ २॥ श्रीरामजी राज्यके भूखे नहीं हैं अर्थात् उनको उसकी चाह नहीं है वे तो धर्मकी धुरी धारण करनेवाले हैं। (अर्थात् पिताने जब भरतको राज्य दे दिया तो वे उसमें बाधा क्यों करेंगे? 'पितु-आज्ञा-भंग' अधर्म है वे उसे कदापि न करेंगे)। विषय-रससे रूखे हैं॥ ३॥ 'घर छोड़कर राम गुरुके घर रहें'—राजासे ऐसा दूसरा वर माँग लो॥ ४॥ जो हमारे कहनेमें न चलोगी तो तुम्हारे कुछ भी हाथ न लगेगा॥ ५॥ यदि कुछ हँसी

की हो तो खोलकर इस बातको कह दो कि हमने हँसी की थी॥ ६॥ श्रीराम-सरीखा पुत्र क्या वनके योग्य है ? यह सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे? अर्थात् तुम्हारी निन्दा करेंगे॥ ७॥ जल्द उठो और वही उपाय करो जिस विधि-(उपाय-) से शोक और कलङ्क मिटें॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'भरतहिं अवसि देहु जुबराजू'*—इस तरह पहले वरके प्रतिकूल कोई नहीं है। भाव कि मुख्य उद्देश्य तो तुम्हारा यही है कि तुम्हारा पुत्र राजा हो तो इसमें कोई हर्ज नहीं वे ही राजा हों। पर रामको वन भेजनेसे तुम्हारा तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ऐसे सुकुमार पुत्रको अनेक कष्ट होंगे। इससे तुम्हें क्या लाभ होगा? (ख) *'नाहिं न रामु राज के भूखे।'''* अर्थात् यदि यह डर हो कि ये राज्यमें उपद्रव करेंगे तो उसपर कहती हैं कि वे विषय-रससे रूखे हैं, विषय-वासनाएँ उनमें नहीं हैं, जो विषयोंमें आसक्त होते हैं वे ही राज्यके भूखे होते हैं और उसकी लालचसे अधर्म करते हैं जिसमें विषय भोग करें। रामजी धर्मधुरीण हैं, विषय-वासना छू भी नहीं गयी जो उनको धर्मसे विचलित कर दे। अतः उनसे कोई संदेह नहीं। मिलान कीजिये—*'राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे॥'* (१७९। ७)

टिप्पणी—२ *'गुर गृह बसहु''''*—सखियोंके कथनका भाव यह है कि यदि यही हठ तुम्हें है कि वनवास माँग चुकीं, अब कैसे बदलें, तो उसका उद्धार यों हो सकता है कि गुरुगृह रहें, वह तो वनके तुल्य तपःस्थल है। (पाँड़ेजी) मुनिका स्थान वनके समान है, अतः गुरुगृहमें रहनेसे तुम्हारा वचन रह जायगा, राजाका भी वचन रह जायगा और श्रीरामजीको वन भी हो गया। *'तजि गेहू'* अर्थात् १४ वर्षतक वे घर न जायँगे, ब्रह्मचर्य धारण करके गुरुके यहाँ रहेंगे। (पं० रा० कु०)

नोट—२ *'कानन काह राम कर काजू'* और *'नाहिं न रामु राजके भूखे'* 'क्योंकि धर्मधुरीण हैं, यहाँतक सिखावनका एक भाग है। और 'बिषयरस-रूखे' हैं इससे *'गुर गृह बसहु रामु तजि गेहू'* यहाँतक दूसरा भाग है। इसपर भी न बोलीं तब सखियोंने कहा कि *'जौं नहिं लगिहहु.....'* तो तुम्हारे कुछ हाथ न लगेगा—न राज्य मिलेगा, न राजा जियेंगे, तुम विधवा होगी, सब 'बिगड़ेगा' और तुझे अपयश होगा।—यह मानो सखियोंका उसको शाप है। (पण्डितजी) 'कुछ हाथ न लगेगा जो हमारा कहा न मानोगी' इस प्रकार साभिप्राय लोकोक्तिका प्रयोग 'छेकोक्ति अलङ्कार' है। अपनी बात भी रहे और राम वन भी न जायँ, सब बात बनी-बनायी रह जाय, इसका एक उपाय *'गुर गृह बसहु राम'* से कहकर दूसरा उपाय उससे निकालनेका कहती है—*'जौं परिहास'* अर्थात् कह दो कि हमने हँसी की थी, प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिये ऐसा कहा था कि इससे मुझे मालूम हो जायगा कि राजाका और रामका मुझमें कितना प्रेम है। वह हमने देख लिया। हँसीकी बात सुनकर सब प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हारी भी वाह-वाह होने लगेगी।

नोट—२ *'राम सरिस सुत कानन जोगू।''''* अर्थात् वे तो नेत्रोंसे बाहर करने योग्य नहीं, यथा—*'आँखिनमें सखि राखिबे योग इन्हें किमिकैं वनवास दियो है।'* (क० २। २०) लोग निन्दा करेंगे, यथा—*'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहन हू ते कठोर हियो है।'* (क० २। २०) पुनः, भाव कि कहाँ ऐसे सुकुमार श्रीरामजी और कहाँ भयङ्कर वन! *'उठहु बेगि सोइ करहु''''* अर्थात् वे वनके लिये तैयार हैं, जल्दी करो नहीं तो फिर कोई उपाय करते न बनेगा। कैकेयी बैठी है, यथा—*'सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहु तनु धरि निठुराई॥'* इसीसे उठनेको कहती हैं।

वि० त्रि०—*'उठहु''* सखियाँ कहतीं हैं कि बैठी क्या हो, उठो और जल्दीसे उपाय करो। इस समय रामजी मातासे आज्ञा लेने गये हैं, तुम वहाँ पहुँच जाओ और कौसल्यासे कहो कि बहन! तुम आज्ञा न देना मैंने परिहास किया था। कुलकी रक्षाके लिये ऐसा कहना भी दोषयुक्त नहीं है। इस समय वन जानेसे तुम्हीं रामजीको रोक सकती हो। माताकी आज्ञा पा लेनेपर वे किसीके रोके रुकेंगे नहीं और यदि वे न रुकें तो तुम्हारे शोक और कलंकका पारावार नहीं रहेगा।

छं०—जेहि भाँति सोकु कलंकु जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहि जात बन जनि बात दूसरि चालही॥
जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥

सो०—सखिन्ह सिखावनु दीन्ह सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी॥ ५०॥

शब्दार्थ—**हठि**=हठ करके। **चालही**=चला, कर। यथा—'*बनमाली दिसि सैन कै ग्वाली चाली बात।*' चालना (सं० चालन)=प्रसंग छेड़ना, बात उठाना। '**जामिनी**' (यामिनी)=रात। **धौं** (ध्रुवका अपभ्रंश)=निश्चय ही; तो। '**परिनाम**' (परिणाम)=अन्त, फल, नतीजा।

अर्थ—जिस प्रकार (पुर, परिजन, प्रजा सबका) शोक और (तुम्हारा) कलंक मिटे वह उपाय करके कुलका पालन (रक्षा) करो। राम वनको जाते हैं उन्हें हठ करके वन जानेसे लौटा (रोक) लो दूसरी बात न चला। जैसे सूर्यके बिना दिन, प्राणके बिना शरीर, चन्द्रमाके बिना रात (शोभारहित होते हैं) वैसे ही तुलसीदासके प्रभु (वा, तुलसीदास कहते हैं कि स्त्रियाँ यह कह रही हैं कि वैसे ही प्रभु) रामचन्द्रजीके बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनी! जरा अपने जीमें समझ तो! सखियोंने वह शिक्षा दी जो सुननेमें मधुर और जिसका फल हितकर है। उसने उसपर जरा भी कान न दिया (न सुना) क्योंकि वह तो कुटिल कुबरीकी पढ़ाई-समझायी हुई है—('*कोटि कुटिलमनि गुरू पढ़ाई*')॥ ५०॥

टिप्पणी—१ (क) '*हठि फेरु रामहि जात बन*.....' श्रीरामजी वन जानेको कह चुके हैं, यथा—'*बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पगु लागी॥*' (४६। ४) अब उनके जानेमें किंचित् संदेह नहीं। वे धर्मधुरंधर हैं अब किसीकी न सुनेंगे, किसी तरह न मानेंगे; इससे कहा कि हठ करो कि न जाने देंगी। यह शोक और कलंक मिटानेका उपाय बताया—(मुं० रोशनलाल) पहले लौटानेका उपाय बताया जा चुका है कि '*गुर गृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥*' (ख) '*जनि बात दूसरि चालहीं*', दूसरी बात अर्थात् वन जानेकी चर्चा न कर, नहीं तो वनगमनसे अवधकी बड़ी दुर्दशा हो जायेगी, जैसा आगे कहती हैं। पुनः, भाव कि सिवाय उनको हठात् रोक लेनेकी बातके और कोई बात ही उनसे न करो, जैसे बने हठपूर्वक रोक लो। (वै०)

टिप्पणी—२ '*जिमि भानु बिनु दिनु*.....' अर्थात् सूर्य बिना दिनकी शोभा नहीं रहती, चन्द्र बिना रात अँधेरी असुहावनी और भयावन, प्राण बिना शरीर मृतक फेंकने-जलाने योग्य हो जाता है वैसे ही राम बिना (क) अयोध्याकी शोभा जाती रहेगी, प्रभुसे ही इसकी शोभा है, यथा—'*अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥*' (७। ३) (ख) वह भयानक लगेगी, यथा—'*लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥*' और (ग) इसे भरत क्या कोई भी न ग्रहण करेंगे, यथा—'*जरउ सो संपति सदन सुख सुहद मातु पितु भाइ।*' *प्रभु बिनु*—प्रभु=स्वामी। जैसे दिनके स्वामी सूर्य, तनके स्वामी प्राण और रात्रिके स्वामी चन्द्र (शर्वरीश, राकेश) वैसे ही अवधके स्वामी राम हैं दूसरा नहीं।'

रा० प्र०—सूर्य बिना दिनमें उत्पात, प्राण बिना तन अपावन, चन्द्र बिना रात्रि विधवा वा शून्य'—(वै० रा० प्र०)

बाबा हरिदासजी—यहाँ शङ्का है कि बिना भानुका दिन कौन होता है, क्योंकि जब जिस लोकमें सूर्य नहीं रहते तब वह रात प्रमाणित होती है, बिना प्राणका तन मुर्दा होता है और चन्द्र बिना रात्रि अमावस्याकी होती है, इस बातको सखियाँ समझा रही हैं (१)—जिस दिन ग्रहणसे सूर्यका सर्वग्रास हो जाता है वह दिन '*भानु बिनु दिनु*' है। भरतजी उस सर्वग्रहणके दिनके समान मलिन रहेंगे और जिस राज्यरूपी प्रकाशके लिये तुम उपाय करती हो उस राज्यको वे ग्रहण न करेंगे। (पूर्ण ग्रहणके कारण

दिन अशोभित रहता है वैसे ही अयोध्या लगेगी)। (२) राजाके प्राण रामजी, यथा—'*मेरे प्राणनाथ सुत दोऊ*' राजा बिना प्राणके तन हो जायँगे। अवधपुरी अमावसकी रातके समान अँधेरी और भयानक होगी।

श्रीनंगेपरमहंसजी—१ '*भानु बिनु दिनु*' इति। सूर्यकी उपमा श्रीरामजीकी है। सर्वग्रास ग्रहणमें तो सूर्यका अभाव हो जाता है और श्रीरामजी तो केवल अवधसे अलग होकर वैसे ही बने रहेंगे। अतएव यहाँ सूर्यके लिये सर्वग्रास ग्रहणका भावार्थ करना अयोग्य है।

यहाँ '*भानु बिनु दिनु*' से वह दिन अभिप्रेत है जिस दिन दिन होनेपर भी सूर्यका दर्शन नहीं होता। वर्षाकालमें सात-सात, आठ-आठ दिनोंतक सूर्य पूर्णरूपसे उदित होनेपर भी मेघोंमें ऐसे छिपे रहते हैं कि देख नहीं पड़ते। वही दिन '*भानु बिनु दिनु*' है। सूर्यका प्रकाश न होनेसे वह दिन अशोभित रहता है। (ऐसे दिवसको दुर्दिन कहा ही है—'**मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्**'। प० प० प्र०) जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रि होती है पर अशोभित है, वैसे ही सूर्यके बिना दिन है पर सूर्य-किरणोंका प्रकाश न होनेसे वह दिन अशोभित है।

(यहाँ भानु, प्राण और चन्द्रमा ये तीन उपमाएँ श्रीरामजीकी दी गयी हैं और उनके बिना अवधके लिये क्रमशः दिन, तन और रात्रिकी उपमाएँ दी गयी हैं। श्रीपरमहंसजीका मत है कि '*भानु बिनु दिनु*' की उपमा अवधके पुरुषोंके लिये है, '*प्रान बिनु तनु*' की उपमा श्रीरामजीकी माताओंके लिये है और '*चन्द्र बिनु जामिनी*' की उपमा अवधकी स्त्रियोंके लिये है। वे लिखते हैं)—जैसे सूर्यके प्रकाश बिना दिन मलिन हो जाता है वैसे ही श्रीरामजीके बिना अवधके पुरुष मलिन हो जायँगे। जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रि मलिन हो जाती है वैसे ही श्रीरामके बिना अवधकी स्त्रियाँ मलिन हो जायँगी। यथा—'*श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि बिलीना॥*' (१९९। ५) श्रीरामजी सूर्य और चन्द्रमारूप हैं ही, यथा—'*मन मुसुकाइ भानुकुल भानू।*' (४१। ५) '*निरखि राम राकेस।*' (७। ९) पुनः जैसे बिना प्राणके देह अशोभित हो जाती है, वैसे ही श्रीरामके बिना माताएँ अशोभित हो जायँगी, अर्थात् विधवा हो जायँगी; क्योंकि श्रीरामजीके बिना राजा जी नहीं सकते और स्त्रीका प्राण पति है। पतिविहीन स्त्री मृतकके समान हो जाती है। अतः माताओंके लिये बिना प्राणके देहकी उपमा दी है। यथा—'*जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥*' (६५। ७)

२-शङ्का हो सकती है कि श्रीरामजीके आनेपर अवधके लोग स्त्री-पुरुष तो शोभित हो गये पर माताएँ नहीं शोभित हुईं? तो उसका समाधान यह है कि इसीलिये ग्रन्थकारने माताओंके लिये '*प्राण बिनु देह*' की उपमा दी है। निकला हुआ प्राण पुनः उस देहमें नहीं आता, इसीसे माताएँ शोभित नहीं हुईं।

३-☞अवधकी नर-नारियोंसे सब रानियाँ पृथक् हैं, क्योंकि 'नर नारी' से राजा-रानीका बोध नहीं हो सकता है। अतः तीन उपमाओंसे समस्त अवधका बोध कराया है।

४-प० प० प्र०—(क) मेघ-पटलसे आच्छादित आकाशके कारण सूर्य-प्रकाश न होनेसे दिन दुर्दिन कहलाता है। इसमें उदासीनता, निरुत्साह, विषाद और बेचैनी होती है। वही अवधकी दशा हुई। यथा—'*श्रीहत सर सरिता बन बागा।*', '*सरित सरोबर देखि न जाहीं।*', '*राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं*', '*अति बिषाद बस लोग लोगाई।*' (ख) बिना प्राणोंका शरीर प्रेत (शव) है। वह जहाँ रहता है उसे श्मशान कहते हैं। प्राणोंके प्रयाणके समय उस घरमें यमदूतोंका आगमन होता है। यही अवधकी दशा हो गयी। यथा—'*घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहु जमदूता॥ बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।*' (८३। ७-८), '*जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा*'। (ग) बिना चन्द्रमाकी रात्रि अमावस्याकी अँधेरी रात्रि है, जिसमें सर्वत्र भयानकता छायी रहती है। भूत-प्रेतोंका संचार अप्रतिहत होता है। चोर, डाकू आदिका विशेष भय होता है इत्यादि। अवधकी वैसी ही दुर्दशा हुई। यथा—'*लागति अवध भयावनि भारी। मानहु काल राति अँधियारी॥ घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥*''''*परिजन जनु भूता।*' (८३। ५—७), '*चले लोग सब ब्याकुल भागी।*' (८४। ४) यह दशा अवधमें दिनहीमें देखनेमें आने लगी।

पाँड़ेजी—सूर्यके स्थानमें रामचन्द्रजी, प्राणके स्थानमें जानकीजी और चन्द्रमाके स्थानमें लक्ष्मणजी हैं।

५—खर्रा—जब रामजी अयोध्यामें हैं तब ज्ञानियोंके लिये राम ज्ञानरूप भानु हैं—ज्ञानी उनके चले जानेसे मानरहित हो जायँगे। उपासकरूपी चकोरोंको राम चन्द्ररूप हैं, उनको देखकर वे प्रसन्न रहते हैं और अयोध्या शरीर है, राम उसके प्राण हैं। प्राण ही न रहेगा तो मृतक-सी हो जायगी। (वा, कर्म तनसे होता है सो बिना प्राण रह नहीं सकता वैसे ही कर्मकाण्डवाले कर्मरहित हो जायँगे)।

६—प्रोफे० लाला भगवानदीनजी—यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा अलङ्कार है। कोई-कोई इसमें तीन उपमाओंको राम, लक्ष्मण और जानकीजीके लिये मानते हैं और विपरीत क्रमालङ्कारद्वारा 'तुलसी' की समता जानकीसे, 'दास' की लक्ष्मणसे और 'प्रभु' की रामजीसे मानते हैं। (वन्दन पाठकजीने अपनी प्रतिमें यह टिप्पणी दी है—मा० सं०) इसी प्रकार आगे गङ्गा उतारनेके प्रसङ्गमें केवटने कहा है कि *'तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं'।* इसमें भी मानते हैं कि केवट यही कह रहा है कि तुलसी (जानकी), दास (लक्ष्मण) और नाथ (रामजी) तीनोंमेंसे किसीको भी पार न उतारूँगा।

७—वीरकवि—रामवनगमनसे अयोध्या फीकी पड़ जायगी, इस एक उपमेयके लिये एक ही धर्म 'अशोभन' के अनेक उपमाओंका कथन 'एकधर्म-मालोपमा अलङ्कार' है। विनोक्ति और उदाहरणद्वारा इसकी पुष्टि हो रही है। अवधवासी स्त्रियोंके मुखसे यह कहलाना कि तुलसीदासके स्वामी 'भाविक अलङ्कार' है। उसने कुछ न ध्यान दिया; क्योंकि *'कुटिल प्रबोधी कूबरी'* यह काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह* चितव जनु बाघिनि भूखी॥ १॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी॥ २॥
राजु करत एहि दैअँ बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई॥ ३॥
एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**रूखी**=स्नेहरहित, स्नेहरूपी चिकनाहटरहित, उदासीन। शील-सङ्कोच-मुरव्वतको त्यागे हुए; रुष्ट तीखी, यथा-*'भोजन देहु भए वे भूखे। सुनिके ह्वै गए वे रूखे'*-सूर। **दैअँ**=विधाता। **बिगोई**=नष्ट कर डाला, बिगाड़ दिया, ठग लिया। **बिलपहिं**=विलाप करते हैं, बिलख-बिलखकर रोते हैं।

अर्थ—कैकेयी उत्तर नहीं देती, कठिन क्रोधके मारे रूखी हो गयी है। (ऐसी देख पड़ती है) मानो भूखी बाघिन हिरनियोंकी ओर देख रही है॥ १॥ रोगको असाध्य जानकर (अर्थात् यह अब किसी प्रकार समझाये न समझेगी) उन्होंने इसे छोड़ दिया और कहते हुए चलीं कि यह मन्दबुद्धि और अभागिनी है (वा यह अभागिन बड़ी मतिमन्द है)॥ २॥ राज्य करते इसे दैवने ठग लिया, नष्ट कर दिया। इसने ऐसा किया जैसा कोई न करेगा॥ ३॥ इस प्रकार नगरके स्त्री-पुरुष विलाप कर रहे हैं और कुचालिन कैकेयीको करोड़ों गालियाँ दे रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'दुसह रिस रूखी'* इति। रिससे रूखी तो पहलेसे ही थी अब प्रतिकूल शिक्षा सुनकर अधिक क्रोध हुआ। अतः *'दुसह रिस'* कहा। (ख) *'मृगिन्ह चितव·····'* इति। बाघिन मृगोंको चितवती है। वृद्ध मृगका मांस नहीं खाती। वृद्धको त्यागकर नवीन-(युवा-)का मांस खाती है। वैसे ही कैकेयी सब स्त्रियोंको वृद्धा (जठेरी) जानकर छोड़ती है। *'रिस रूखी'* कहकर देखना कहा। अर्थात् उसने मुखसे कुछ उत्तर **न** दिया, क्रोधसे उनकी ओर देखा। यहाँ 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ *'ब्याधि असाधि जानि·····'* इति। (क) जब वैद्य समझ लेते हैं कि रोग असाध्य हो गया तब वे ओषधि देना बंद कर देते हैं कि अब हमारे बसका नहीं। [वैसे ही इन वृद्धा स्त्रियोंने यह जानकर कि यह कितना भी समझानेसे न मानेगी उपदेश करना छोड़ दिया। (ख) ***'चलीं कहत***

* मृगन्हि—रा० प्र०। प्र० सं० में 'मृगन्हि' था। रा० प्रे० टीकामें 'मृगिन्ह' है और गी० प्रे० में 'मृगिन्ह' है। स्त्रियोंके लिये स्त्रीलिङ्ग विशेष उपयुक्त है। प्र० सं० में छापेकी अशुद्धि थी, अर्थ 'मृगिन्ह' का ही किया गया था।

***मतिमंद अभागी*' इति। मंद बुद्धि कहा; क्योंकि हित उपदेश न माना, न उत्तर दिया, उल्टे क्रोध ठाना। '*अभागी*' का भाव कि भाग्यरूप श्रीमहाराज हैं सो बिना रामके न जीवित रहेंगे। अथवा, विषयसुखहेतु यह श्रीरामजीसे विमुख हुई; अत: अभागिनो है। (रा० प्र०)। जो हितकी न माने वह अभागा है, यथा—'*उतरु देत मोहि बधब अभागे।*' (३। २६। ६) '*फिरि पछितैहसि अंत अभागी।*' (३६। ८) जिसके हितचिन्तक उसे त्याग दें वह भी अभागा है, यथा—'*रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥*' (५। ४२। ३) और रामविमुखको सर्वत्र अभागा कहा ही है।]

राजा और पुरवासिनियोंकी शिक्षाका मिलान

बानी सबिनय तासु सोहाती	-	*लगीं देन सिख सीलु सराही।*
देउँ भरत कहुँ राजु बजाई	-	*भरतहिं अवसि देहु जुबराजू* २
लोभु न रामहिं राजु कर	-	*नाहिंन रामु राज के भूखे* ४
तेहि ते परेउ मनोरथ छूछें	-	*नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारें* ५
रिस परिहास कि	-	*जौं परिहास कीन्हि कछु होई*
प्रिया हास रिस परिहरहि	-	*तौ कहि प्रगट जनावहु सोई*
राममातु कछु कहेउ न काऊ	-	*कौसल्या अब काह बिगारा*
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती	-	*नृप सन अस बर दूसर लेहू*
कहु तजि रोषु राम अपराधू	-	*केहि अपराध आजु बनु देहू*
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू	-	*करहु राम पर सहज सनेहू*
अब सुनि मोहिं भएउ संदेहू	-	*काह कहिहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू*
'*जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥*		*प्रीति प्रतीति जानु सबु देसू*
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥		*रामसरिस सुत कानन जोगू*
जीवनु मोर राम बिनु नाहीं	-	*नृप कि जिइहि बिनु राम*
चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी उर तोरें॥		*राज कि भूँजब भरत पुर*
माँगु बिचारि बिबेक। जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेक॥,		—*उठहु बेगि सोइ करहु उपाई*
'*तोर कलंकु मोर पछिताऊ।*		—*सोक कलंक कोटि जनि होहू*
मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ।		
नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती'		
'*देखी ब्याधि असाधि नृप*'		—*ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी।*
'*अब तोहि नीक लाग करु सोई।*		
लोचन ओट बैठु मुँह गोई'		
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ		—*चली कहत मतिमंद अभागी*
'*परेउ राउ कहि कोटि बिधि*......' से		—*एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी*
'*बिलपत नृपहि भएउ*......' तक		
बर दूसर असमंजस माँगा		-*कानन काह राम कर काजू*
बिधि बस कुमति बसी जिय तोरें		-*राज करत यह दैव बिगोई*
कपट सयानि न कहति कछु		-'*उतरु न देइ दुसह रिस रूखी।* ....'

जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥ ५॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचरगन सूखत पानी॥ ६॥
अति बिषाद बस लोग लोगाईं। गए मातु पहिं रामु गोसाईं॥ ७॥

मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा* सोचु जनि राखइ† राऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिषम जर**=विषम ज्वर। वैद्यकके अनुसार एक प्रकारका ज्वर जो होता तो नित्य है पर जिसके आनेका कोई समय नियत नहीं होता। इसमें तापमान भी सदा समान नहीं रहता और नाड़ीकी गति भी सदा एक-सी नहीं रहती, बराबर बदलती रहती है। ज्वरका यह रूप किसी साधारण ज्वरके बिगड़ने अथवा पूरी तरह अच्छे न होनेपर कुपथ्य करनेके कारण होता है। इसके अनेक भेद कहे गये हैं। जैसे संतत, सतत, तृतीयक, चतुर्थक, क्षयी इत्यादि। वीरकविजीके मतानुसार विषम ज्वर पाँच प्रकारका होता है। इन सबोंमें पहले कम्प पीछे दाह होता है तथा दम फूलने लगता है। **उसास**=ऊर्ध्वश्वास, ऊँची लंबी साँस। **कवनि**=कौन। **जलचर**=जलमें रहनेवाले जीव-जन्तु। **लोगाईं**=स्त्रियाँ। **चाऊ**=चाव, उत्साह।

अर्थ—पुरवासी विषम ज्वरसे जल रहे हैं; उलटी लंबी साँसें लेते हैं (और कहते हैं कि) श्रीराम बिना जीनेकी कौन आशा है?॥ ५॥ भारी वियोग समझकर प्रजा बड़ी व्याकुल हो गयी। मानो जलचर-समूह पानीको सूखता देख छटपटा रहा है॥ ६॥ स्त्री-पुरुष सभी भारी विषादके वश हो गये। गोस्वामी श्रीरामचन्द्रजी माता कौसल्याके पास गये॥ ७॥ उनका मुख प्रसन्न है, चित्तमें चौगुणा उत्साह है। यह सोच दूर हो गया कि कहीं राजा रख न लें॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जरहिं बिषम जर'* इति। विषम ज्वरमें गर्मी बहुत होती है और साँस बहुत चलती है, जीनेकी आशा नहीं रहती। बहुत दिनतक रहनेवाला ज्वर विषम ज्वर कहलाता है। पुरवासियोंका यह ज्वर १४ वर्षतक नहीं उतरेगा। इसीसे कहते हैं *'कवनि राम बिनु जीवन आसा'* अर्थात् उनको अपने जीनेकी आशा न रह गयी। [विषम ज्वरमें पहले कम्प होता है पीछे दाह होता है तथा दम फूलने लगता है। यहाँ वियोगका भय कम्प है, तज्जनित संताप दाह है। ज्वरसे पीड़ित होनेपर रोगी अधीर और जीवनसे निराश हो जाता है। वैसे ही पुरवासी अधीर और निराश हैं। (वीरकवि) यहाँ श्रीरामजीसे चौदह वर्षका वियोग होगा यह विचार विषम ज्वर है। श्रीरामदर्शन ही ओषधि है। वह न मिलेगी अतः जीवनसे निराश हो रहे हैं। (वै०)]

टिप्पणी—२ *'बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी।…'* इति। (क) १४ वर्षका वियोग है, अतः *'बिपुल'* कहा। (ख) श्रीरामजीका वन जाना जलका सूखना है। यहाँ मछली न कहकर जलचरसे प्रजाकी उपमा दी; यह भी साभिप्राय है। पानी सूखनेसे मछली मर जाती है; पर और जलचर नहीं मरते। राम-वनगमनसे कोई प्रजा मरेगी नहीं, सब जीती रहेगी; अतएव *'जलचरगन'* से उपमा दी। (ग) पुनः, विषम ज्वरसे अन्तःकरणका ताप कहा और जलचर कहकर प्रजाके तनकी दशा कही कि सबके शरीर तलफते (तड़पते) हैं।

टिप्पणी—३ *'अति बिषाद बस…'* इति। (क) *'अति'* अर्थात् बहुत भारी है, सहा नहीं जाता, धैर्य नहीं धारण किया जा सकता, यथा—*'जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥'* (४६। ८) (ख) *'बिदा मातु सन आवउँ माँगी।'* (४६। ४) उपक्रम है, *'गए मातु पहिं रामु गोसाईं'* उपसंहार है। *'गोसाईं'* का भाव कि अन्य सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हैं, पर इनकी इन्द्रियाँ सावधान हैं; क्योंकि ये इन्द्रियोंके स्वामी हैं। इन्द्रियजित हैं अतः इनका मन मलिन न हुआ। (पाँड़ेजी) 'गो' अर्थात् पृथ्वीके स्वामी हैं अतः भूभार उतारनेके लिये प्रसन्न हो विदा होने गये। अथवा, माता रखना चाहेगी; पर ये न रहेंगे; क्योंकि *'गोसाईं'* हैं, उन्होंने स्नेहको जीत लिया है। यथा—*'तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति दीनबंधु दयालु मेरे बारे।…तुलसिदास जौं रहौं मातहित को सुर बिप्र भूमि भय टारे।'* (गी० २। २)

'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।…' इति।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—(क) अर्थात् सबका मुख तो सूख रहा है, सबके मुखपर खेदके चिह्न हैं,

---

* 'मिटा' पाठ राजापुर, पं० रामगु० द्वि०, भा० दा० इत्यादिका है। वन्दन पाठकजीकी प्रतिमें हाशियेपर 'इहै' पाठान्तर है। पं० रामगुलामजीने पाठ 'मिटा' रखा है पर अर्थ 'इहै' का किया है। † राखै-गी० प्रे०। राखइ-रा० प्र०।

सबका चित्त विकल है, यथा—*'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं'* पर श्रीरामजीका मुख प्रसन्न है। (ख) *'चौगुन चाऊ'* का भाव कि जैसे सबके हृदयमें चाव था कि *'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होहि चित चेता॥'* उससे चौगुणा चाव रामजीको वन जानेमें हुआ।

२ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि *'चौगुन चाऊ'* अर्थात् बहुत उत्साह है। श्रीरामजीने वनगमनमें चार लाभ दिखाये हैं, यथा—*'मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर'* एक यह, *'तेहि महँ पितु आयसु'* का पालन यह दूसरा, *'बहुरि संमत जननी तोर'* अर्थात् माताकी आज्ञाका पालन यह तीसरा और *'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू'* यह चौथा। ब्रह्मा आज सब प्रकारसे अनुकूल हैं कि ये चारों प्राप्त हो रहे हैं। अत: चौगुना कहा। जो सोचा था कि राजा न जाने देंगे वह मिटा।

३—पंजाबीजी—माता, पिता और देवताओंकी प्रसन्नता ये तीन और चौथे रावणादिका वध जिससे सृष्टिका भार उतरेगा, जिसके लिये अवतार हुआ यह कार्य पूर्ण होगा। अत: *'चौगुन'* कहा।

४ रा० प्र०—जिस लिये हमारा अवतार है वह कार्य होगा, यह समझकर चौगुना आनन्द है। ऐसा आनन्द होनेपर विचारते हैं कि जो मिटा हुआ सोच है उसको राजा फिर न रखें अर्थात् फिर न कहें कि रह जाओ। वा, *'राजा राखै जनि'* यह जो सोच था सो मिटा।

५ बैजनाथजी—मुख तो पूर्ववत् स्वाभाविक प्रसन्न है। वनको जानेके लिये चित्तमें पूर्वसे चौगुण उत्साह आनन्द है, (क्योंकि) अबतक एकपाद-विभूतिमें रहे, अब चतुष्पाद-विभूति धारण की।

६ गौड़जी—*'चौगुन चाऊ'*—एक तो वनगमनकी भगवान्‌की अपनी इच्छाकी पूर्ति, देवताओंकी अधीरताकी शान्ति, तीसरे भगवान्‌की अनुपस्थितिमें भरतद्वारा राज्यप्रबन्ध, चौथे सीधे आप-ही-आप माता-पिताकी आज्ञा—ये चारों बातें बिलकुल ठीक हो गयीं। अब किसी तरहकी रुकावट नहीं रही। रुकावटें चारों तरहकी थीं। (१) अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये इस विचारका बहाना मिला कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* इस 'बिसमय' ने 'पछितानि' और उसका परिणामरूप यौवराज्यसे विरक्ति उत्पन्न की। *'जेठस्वामि'* वाली रुकावट यों मिटी। (२) कैकेयी भगवान्‌को इतना जीसे चाहती थी कि उसकी मति न फेरी गयी होती तो यह वनगमनकी घटना घटती ही नहीं। देवताओंकी बारह बरसतककी शिथिलता भारी रुकावट थी। उधर उनमें अधीरता उत्पन्न होनेके लिये राजाकी राज्याभिषेककी इच्छा सहायक हो गयी और इस कारण वह कैकेयीके मत फेरनेमें प्रवृत्त हुए। दूसरी रुकावट मिटी। (३) राम-वन-यात्रामें बड़ी रुकावट यह होती कि उनकी अनुपस्थितिमें राजकाज कौन सँभालेगा, यह विकट प्रश्न उपस्थित होता। भगवती सरस्वतीने दूसरे वरदानमें उसका भी पूरा प्रबन्ध कर लिया। इस तरह वह तीसरी रुकावट भी मिटी। (४) सब होते माता-पिता वन क्यों जाने देते? भरतके राज्यपद पानेमें राम-वन-यात्रा आवश्यक न थी। वर और प्रतिज्ञाकी इस विषयमें भारी सहायता मिली। कैकेयीकी थाती थी। वह वनगमन माँग चुकी थी और देवमाया गाढ़ी थी। राजा मौन रह गये थे। **'मौनं सम्मतिलक्षणम्।'** इस तरह राजाकी भारी रुकावट थी, वह भी मिट गयी। सत्य और वात्सल्यका भयानक संघर्ष था। सत्यकी जीत हुई और होनी ही थी। राजासे रुकावटका डर अन्तकी घड़ीतक था। वह चौथी रुकावट अभी-अभी मिटी। इन चारों रुकावटोंके मिटनेसे चौगुना चाव है। अब वनगमन निश्चय ही है। *'रघुवंशमनि-नव-गयन्द'* के चारों चरण जंजीरसे बँधे थे। सब रुकावटोंका समूह और राज्यरूपी जंजीर चारों पावोंको चारों रुकावटोंके बन्धनमें बाँधे हुए थी। वह बन्धन छूट गये। हृदयमें स्वतन्त्रताका आनन्द चौगुने चावसे उमड़ पड़ा। यह अगले दोहेसे सुसङ्गत है।

पु० रा० कु०—*'मिटा सोच·····'*—भाव कि राजतिलक सुनकर श्रीरामजीको सोच हुआ था, यथा—*'गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ॥'* (१०। ४) वे यह जानते हैं कि माता कौसल्या पतिव्रता हैं, वे वन जानेकी आज्ञा अवश्य दे देंगी; यथा—*'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।'* पर राजा वन जानेको न कहेंगे, अतएव केवल राजाहीके रख लेनेका सोच है। [नोट—पिताकी आज्ञा वर देनेसे और

माताकी बर माँगनेसे, इस तरह माता-पिता दोनोंकी आज्ञा हो गयी। अब चिन्ता न रही कि पिता रोक लेंगे। वे श्रीरामजीके इस वाक्यपर कुछ न बोले कि 'मातासे बिदा माँगकर आपको प्रणामकर चल दूँगा' इससे निश्चय ही पिताकी आज्ञा हो गयी। पहले डर था कि माताकी बातको झूठी कर देते। अतः सोच मिट गया कि अब कोई रोक नहीं। तत्त्वानुसन्धानद्वारा यह निश्चय होना, 'मतिसंचारी' भाव है। सम्भवतः पं० रा० कु० जीका पाठ *'इहै सोच'* रहा हो।]

दो०—नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥ ५१॥

शब्दार्थ—**नव**=नया, हालका जंगलसे पकड़ा हुआ। **गयंदु**=हाथी। **अलान**=लकड़ीकी बनी हुई तिकोनी बेड़ी जिसके भीतर लोहेके काँटे लगे रहते हैं। यह नये पकड़े हुए हाथीके पैरमें लगाकर रस्सीमें बाँध दी जाती है। लोहेके काँटे होनेके कारण हाथी उछल-कूद नहीं सकता—(दीनजी)=बन्धन, बेड़ी, यथा—**'अलानं गजबन्धनम्'** इति। (अमरकोष)

अर्थ—रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका मन नये पकड़े हुए हाथीके समान है और राज्य *'अलान'* के समान है। वन जाना है यह सुनकर उस बेड़ीको छूटी जानकर उनके हृदयमें आनन्द बढ़ गया॥ ५१॥

टिप्पणी—१ *'नव गयंदु'* का भाव कि बहुत दिनोंका पकड़ा हुआ हाथी फिर वन जानेकी इच्छा नहीं करता। नवीन हाथी बन्धनमें पड़नेसे दुःखी होता है, वह वनमें जाकर स्वच्छन्द रहनेकी इच्छा करता है। पुराना हाथी बन्धनमें पड़नेको नहीं डरता, नया बन्धनको डरता है।

प० प० प्र०—१ श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी नव (तरुण) हाथी राज्यरूपी अलानस्तम्भसे युवराज्या-भिषेकरूपी लोहेकी दृढ़ शृङ्खलासे बद्ध होनेवाला था। भाव कि श्रीरामजीकी इच्छाके विरुद्ध राज्याभिषेककी तैयारी की गयी थी। अब राज्याभिषेक नहीं होगा, इससे *'राम सहज आनंद निधानू'* के आनन्दकी वृद्धि हो गयी।

टिप्पणी—२ *'रघुबीर मनु'* इति। रघुवीर शब्दसे जनाया कि पाँचों प्रकारकी वीरताएँ प्रभुके हृदयमें हुलसीं। पृथ्वीका भार उतारनेमें, उसको निशाचरहीन करनेमें युद्ध-वीरता; सुग्रीव-विभीषणादिको राज्य-दान और भक्तिप्रदानमें त्यागवीरता (वा, अवधराज्यके त्यागमें त्याग और सुग्रीवादिको राज्य देनेमें दान-वीरता); अत्रिजी, सुतीक्ष्णजी आदि महर्षियोंके श्रमको सफल करने, गृध्रराज और शबरीजीपर कृपा करनेमें दया-वीरता; दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनमें धर्मवीरता (*'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं'* यह बालिने कहा ही है।) और सुग्रीव, तारा, दशरथ आदिको ज्ञान देनेमें विद्यावीरता—ये सब कार्य श्रीरामजीको वनमें करने हैं।

टिप्पणी—३ यह सब घटना श्रीरामजीकी इच्छासे हुई, यह सुरगुरुके *'तब किछु कीन्ह रामरुख जानी'* इस वाक्यसे तथा श्रीरामजीके *'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'* से स्पष्ट है।

वन्दनपाठकजी—रामजी नव गयन्द हैं और सब देवता वनचर-देह धारण किये हुए उनकी राह ताकते हैं, उस गयन्दकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अतः वनके नव गजेन्द्रकी उपमा बहुत ही उपयुक्त है।

नोट—श्रीरामचन्द्रजी राज्यको बेड़ीके समान समझते थे, यथा रघुवंशमें—**'पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत। पश्चाद् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥'** (१२। ७) अर्थात् पिताकी दी हुई पृथ्वीको ग्रहण करनेमें रामचन्द्रजी रोते थे, परंतु वन जानेकी आज्ञाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया।

रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायेउ माथा॥ १॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे॥ २॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥ ३॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाए। स्त्रवत प्रेम रस पयद सुहाए॥ ४॥
प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई॥ ५॥